

❖ नानेशवाणी— 38
अध्यात्म के बिखरे मोती (भाग— प्रथम)

ukus' kok. kh&38

❖ आचार्य श्री नानेश

अध्यात्म के बिखरे

❖ प्रथम संस्करण : मई, 2006, 1100 प्रतियाँ

❖ मूल्य : 30/-

❖ अर्थ सहयोगी :
सेठ श्री सुरेन्द्रकुमारजी बाँठिया, भीनासर/कोलकाता

vkpk; Uh ukus'k

❖ प्रकाशक :
श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर
दूरभाष 0151-2544867, 3292177, 2203150 (Fax)

❖ आवरण सज्जा :
नटराज इन्फॉसिस
बीकानेर

❖ मुद्रक :
तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर
दूरभाष 9351202622

प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, बीकानेर (राज.)

प्रस्तुत कृति 'v/; kRe ds fc[kjs ekrh Wkkx& i Fke½ नाम से प्रकाशित पुस्तक की नई आवृत्ति है। इस कृति के प्रकाशनार्थ अर्थ प्रदान करने हेतु I B Jh I gjndepkj th ckfB; k] HkhukI j@dkydkrk के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना भी अपना दायित्व समझता हूँ।

यद्यपि सम्पादन-प्रकाशन में पूरी सावधानी रखी गई है, तथापि कोई भूल रह गई हो तो सुधी पाठकों से निवेदन है कि वे हमें अवगत करायें ताकि आगामी संस्करणों में भूल का परिमार्जन किया जा सके।

निवेदक

'kkfUryky I kM

संयोजक

साहित्य प्रकाशन समिति

श्री अ. भा. सा. जैन संघ, समता भवन, बीकानेर

çdk' kdh;

हुकमगच्छ के अष्टमाचार्य युगपुरुष श्री नानेश विश्व की उन विरल विभूतियों में हैं जिन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से समाज को सम्यक् जीवन जीने की वह राह दिखाई जिस पर चल कर भव्य आत्माएँ अपने कर्मों का क्षय कर मोक्ष की अधिकारिणी बन सकती हैं। यद्यपि आचार्यश्रीजी के भौतिक व्यक्तित्व का अवसान हो चुका है, तथापि उनके द्वारा चलाये गये विविध अभियानों में वह सदा ही प्रतिच्छायित होता रहेगा। इस प्रकार उनका यह व्यक्त रूप ही पर्यवसित होकर उस कृतित्व में समाहित हो गया है जो उनके द्वारा विरचित साहित्य के रूप में उपलब्ध है। एक क्रान्तदर्शी आचार्य का यह प्रदेय साहित्य की वह अनुपम निधि बन गया है जो सांसारिक प्राणियों के लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता रहेगा। इस स्तम्भ से विकीर्ण होने वाली प्रकाश-रश्मियाँ युगों-युगों तक आलोक-धारा प्रवाहित करती रहे इसके लिये यह आवश्यक है कि न तो उन साहित्य-रश्मियों को क्षीण होने दिया जाय, न ही उनकी उपलब्धता बाधित होने दी जाये, वरन् आवश्यक यह भी है कि सर्वसामान्य जनों-हित उनकी सुलभता सुनिश्चित रखी जाये। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ ने उस अनमोल साहित्यिक धरोहर को 'नानेश वाणी' पुस्तक शृंखला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का निर्णय किया।

इस सन्दर्भ में बेंगलोर निवासी सुश्रावक श्री सोहनलालजी सिपानी ने अर्थ सम्बन्धी व्यवस्था में जो सद्प्रयत्न किया, वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

I B Jh I gjlnzdkj th ckfB; k Hkhukl j@dksydkrk

भीनासर के स्व. सेठ श्री सोहनलालजी बांठिया ने अपने व्यवसाय का क्षेत्र कोलकाता को चुना। व्यावसायिक क्षेत्र में अपने स्तर पर आपने बहुत अच्छी प्रतिष्ठा अर्जित की और साथ ही साथ कोलकाता की सुप्रसिद्ध जैन संस्था श्री एस.एस. जैन सभा, कोलकाता के अध्यक्ष पद को भी सुशोभित किया। स्व. सेठ श्री सोहनलालजी बांठिया के पांच पुत्र हुए, जिनमें से श्री सुरेन्द्रकुमारजी बांठिया पांचवीं संतान हैं। श्री सुरेन्द्रकुमारजी के अन्य चार भाई क्रमशः श्री सम्पतलालजी बांठिया, श्री इन्द्रकुमारजी बांठिया, श्री सुन्दरलालजी बांठिया और श्री जेटमलजी बांठिया हैं, इनमें से श्री सम्पतलालजी बांठिया का स्वर्गवास हो गया।

अपने पांचों भाइयों में सबसे छोटे होते हुए भी श्री सुरेन्द्रकुमारजी बांठिया ने कोलकाता स्थित अपने पिताजी के व्यवसाय को बड़ी दक्षता से सजाया, विकसित किया और उत्तरोत्तर प्रतिष्ठित किया। आप कोलकाता के छत्ता व्यवसाय के क्षेत्र में एक बड़े व्यवसायी और छत्ता सामग्री के निर्माता हैं। कोलकाता के बड़े उद्योगपतियों में आपकी गणना होती है। इसके अलावा दिल्ली और मुम्बई में भी आपका व्यवसाय है।

आपकी फर्म श्री जेटमल सुरेन्द्रकुमार बांठिया, कोलकाता ने हावड़ा के सुप्रसिद्ध जैन हॉस्पिटल में प्रभूत अर्थ-सहयोग प्रदान किया है। आपने श्री जैन जवाहर विद्यापीठ, भीनासर को एक विशाल सभा-कक्ष अर्पित किया है। कोलकाता की अनेकानेक संस्थाओं में उदार हृदय से दान देकर श्री सुरेन्द्रकुमारजी बांठिया ने एक सुप्रसिद्ध दानवीर के रूप में ख्याति अर्जित की है। आप श्री अ. भा.साधुमार्गी जैन संघ के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष भी रहे हैं तथा संघ की विभिन्न प्रवृत्तियों में तन-मन-धन से सदैव सहयोगी रहते हैं।

प्रशान्तमना, शास्त्रज्ञ, तरुण तपस्वी, परम् पूज्य आचार्यप्रवर श्री रामलालजी म.सा. के गंगाशहर-भीनासर चौमासे में आपने बहुत ही सहजता और सरलता के साथ अपनी सेवाएं प्रदान कर जन-जन का मन जीता है।

अनुक्रमणिका

संशय आध्यात्मिक जीवन के लिए बाधक	:	7
स्वयं को स्वयं से देखो, चर्मचक्षुओं से नहीं	:	21
अन्दर के शत्रु को पहिचानें	:	37
भगवान की सेवा हम किस रूप में करें?	:	53
भगवान की सेवा और अनेकान्त दष्टि	:	68
सम्प्रदाय और उसकी आवश्यकता	:	85
भगवान की वाणी और अनेकान्त दष्टि	:	100
लोक-व्यवहार एवं धार्मिक विधि-विधान	:	115
सम्यक्त्व और उसके लक्षण	:	130
सम्यक्त्व और उसके लक्षण-2	:	145
स्वाध्याय, उसके प्रकार एवं जीवन-निर्माण	:	162
वन्दन कैसे करें ?	:	179
अहिंसा का स्वरूप	:	189

और जानने का है। वह जानता भी है और देखता भी है। शास्त्रकारों ने इस विषय में संकेत दिया है कि तुम जानो और देखो। परन्तु एक भाग को ही देखकर अथवा जानकर 'मैं परिपूर्ण बन गया हूँ' यह मत सोचो ! ऊपर का देखना और भीतर का देखना, ये दोनों एक साथ बनें, तभी मनुष्य देखने की इच्छा को शांत कर सकता है। प्रार्थना में भी एक संकेत आया है कि 'दर्शन दीठे जिन तणो, संशय न रहे वेध दिनकर कर भर पसरता रे अंधकार प्रतिषेध' अर्थात् जिन भगवान के मैंने दर्शन किये ! परमात्मा के दर्शन यदि सही मायने में हो जाते हैं, तो संशय को कोई अवकाश नहीं रहता है, लेकिन जिन वस्तुओं और जिन पदार्थों को लेकर मनुष्य संशय करता रहता है कि, यह वस्तु है या नहीं ? आत्मा है या नहीं ? परलोक किसने देखा ? वर्तमान ही सब—कुछ है। वर्तमान को ही साधना चाहिए। भूत और भविष्य की चिंता छोड़ देनी चाहिए। इस प्रकार की बातें वही कर सकता है, जिसने वस्तु स्वरूप को सही मायने में नहीं पहिचाना। संशयशील व्यक्ति वही बनता है, जिसकी वीतराग देव में आस्था नहीं होती। जब तक मनुष्य के मन में परमात्मा के प्रति सुदृढ़ आस्था नहीं होती तब तक वह व्यक्ति जिंदगी संशय में ही व्यतीत करता रहता है। ज्ञानीजनों ने भी कहा है "संशयात्मा विनश्यति"। संशयशील आत्मा, विनाश की प्राप्त होता है। हां ! जिज्ञासा की दृष्टि से वस्तु स्वरूप को समझने के लिए संशय अवश्य होना चाहिये। गौतम स्वामी ने भी संशय किया था, परन्तु उनका संशय जिज्ञासा के साथ था। भगवती सूत्र में, गौतम स्वामी के प्रश्नों की प्रचुरता है। उन्होंने, किस प्रकार प्रश्न किये और भगवान ने उनके किस प्रकार उत्तर दिये ? गौतम स्वामी, भगवान महावीर के प्रथम शिष्य एवं गणधर थे। वे जिज्ञासु बनकर आये, परन्तु सत्य के जिज्ञासु बने। भगवान महावीर ने उन्हें 'त्रिपदी' प्रदान की। अर्थात् तीन पद प्रभु ने दिये— "उत्पन्नेइ वा बिगमेइ वा ध्रुवेइ वा" उत्पन्न होना, विनाश होना और ध्रुव रहना सत् पदार्थों का धर्म है। इन तीन पदों से गौतम स्वामी को

संशय आध्यात्मिक जीवन के लिए बाधक

प्रार्थना

विमल जिन दीठा हो लोयण आज, मारा सिध्या वांछित काज दरिण दीठे जिन तणो रे, संशय न रहे वेध दिनकर कर भर पसरता रे, अंधकार प्रतिषेध।।५।।

बन्धुओ !

मानवीय शरीर के विभिन्न अंगों में नेत्रों का विशेष महत्त्व है। जिसके नेत्र नहीं हैं वह व्यक्ति अंधा कहलाता है। और अंधे व्यक्ति के लिये सारा संसार अंधकार से परिपूर्ण होता है। दिन के समय एक सूर्य नहीं, अनेक सूर्य भी उदित हो जायें, तब भी, नेत्रहीन व्यक्ति को प्रकाश की एक किरण भी नहीं दिख सकती है। इसलिए, नेत्रों का एक दृष्टि से विशेष महत्त्व है। ये नेत्र देखने का माध्यम होते हैं। परन्तु नेत्रों से वस्तु के परिपूर्ण दर्शन नहीं होते। वस्तु का कुछ अंश ही दिख पाता है। कोई व्यक्ति हाथ में आम का फल ले ले, परन्तु आम के फल को हथेली पर रहते हुए भी आंखों से पूर्ण रूप से नहीं देख पाता, वह इसके ऊपर के भाग को तथा इधर—उधर का हिस्सा ही देख पाएगा, नीचे और भीतर क्या है, उसे नहीं देख पाएगा। तो इन आंखों से जहां तक किसी भी वस्तु को देखने का प्रश्न है, वह अपूर्ण है, परिपूर्ण नहीं है। इसके विपरीत आत्मा के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह परिपूर्ण होता है। उस परिपूर्ण ज्ञानी आत्मा को जानने और समझने की आवश्यकता है। आत्मा का स्वभाव देखने

प्रज्ञा ने, उनकी बुद्धि ने, भगवान महावीर के केवलज्ञान में झलकते हुए सब द्रव्य-पर्यायों के समग्र स्वरूप को सार रूप में जान लिया और श्रुतकेवली हो गये। चौदह पूर्वों के ज्ञाता बन गए। चौदह पूर्वों के ज्ञाता को कभी संशय नहीं रहता परन्तु वे अपने ज्ञान की प्रामाणिकता के लिये, प्रभु के समक्ष समय-समय पर प्रश्न उपस्थित करते रहते थे। प्रश्न पैदा करने में उनके अंदर का आशय तो केवलज्ञानी ही प्रकट कर सकते हैं। परन्तु अनुमान किया जाता है कि आम जनता अपने दिल की बातें प्रभु के समक्ष रखने में संकोच करती थी। प्रश्न नहीं कर सकती थी। मन में प्रश्न उठते थे, परन्तु उनको प्रकट करने में संकोच करती थी। विशिष्ट पुरुष आम जनता का प्रतिनिधित्व करता हुआ, प्रश्नों का समाधान ले लेता है। जिससे आम जनता को उसका समाधान अपने आप मिल जाता है। गौतम गणधर भी इसी स्थिति को लेकर चलते थे। वे लोकनायक युगपुरुष थे। चतुर्विध संघ में साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका होते हैं। वे सभी अपने-अपने स्थान पर साधर्मी वात्सल्य से परिपूर्ण होते हैं। चतुर्विध संघ के मन में कोई भी संशय प्रवेश करता, तो गौतम स्वामी उसका समाधान कराने के लिये प्रभु के समक्ष प्रश्न करते और भगवान उनका उत्तर देते। प्रश्न जिज्ञासा की दृष्टि से होते थे। अविश्वास या अश्रद्धा से नहीं। आज का विज्ञान तो यह बात कह रहा है, परन्तु भगवान ने यह बात अन्य तरीके से कही है, तो हम सत्य को कैसे समझें ? आज का विज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता है। परन्तु भगवान की वाणी तो प्रत्यक्ष द्रष्टा के रूप में होती है। अतः उसमें संशय की कोई बात नहीं रहती। जिज्ञासु व्यक्ति जिज्ञासा भाव से प्रश्न करता है, और यदि उसका समीचीन समाधान मिल गया तो वह संतुष्ट हो जाता है। कदाचित् केवलज्ञानियों की अनुपस्थिति में, सही समाधान नहीं भी मिला, तब भी, वह आस्थावान होने से संतुष्टि का अनुभव करता है। वह जानता है कि मैं विशेष ज्ञान को बढ़ाने के लिये प्रश्न करता हूँ। इन प्रश्नों के उत्तर तो वीतराग देव के ज्ञान

में समाहित हैं। मेरी बुद्धि, इस समय इतनी तीक्ष्ण एवं पारदर्शी नहीं है कि वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान के आशयों को समझ पाए। मुझमें जितनी बुद्धि है उतना ही समझने की चेष्टा करूँ। जीवन को आध्यात्मिकता से सजाकर, जिन-भगवान को देखने को मैं आतुर हूँ। मेरी वह आतुरता समाप्त हो। इस भावना को रखने वाला व्यक्ति संशय में डोलता नहीं है। उसकी आत्मा संसार में नहीं भटकती। उसका आत्मा संसार समुद्र को पार करती हुई, एक दिन जिन-भगवान के दर्शन करने के लिए बढ ही जाती है।

भगवान गौतम स्वामी, प्रभु के समक्ष विराजमान थे। यहां गौतम स्वामी को, भगवान शब्द से संबोधित किया गया है। शास्त्रों में इन्हें भगवान शब्द से पुकारा गया है। यद्यपि वे उस समय छद्मस्थ थे। भगवान शब्द, सिर्फ भगवान के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता अपितु यह विशिष्ट व्यक्तियों के विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त होता है। जिनके साथ यह शब्द प्रयुक्त होता है, वह विशेषता का ही द्योतक है। श्रेष्ठ जन, श्रेष्ठ पुरुषों के लिये भी, योग्य सम्मान की दृष्टि से भगवान शब्द का प्रयोग शास्त्रकार करते हैं। शास्त्रकारों ने अरिहंतों के साथ भी भगवान और सिद्धों के साथ भी भगवान शब्द का प्रयोग किया है। सिद्ध भगवान, आठ कर्मों से रहित, सिद्ध अवस्था में विराजमान हैं और अरिहंत, चार कर्मों सहित हैं। परन्तु दोनों के साथ भगवान शब्द लगा हुआ है। तो जो दीक्षा एवं वय स्थविर हैं, साठ वर्ष की अवस्था वाले हो गए हैं, दीक्षा की दृष्टि से स्थविर हो गए, उनके लिए भी भगवान शब्द का प्रयोग किया जाता है। शास्त्र में, गणधरों के लिये भी, भगवान शब्द आया है, परन्तु वे सिद्ध या अरिहंत नहीं हैं। यहां इनका इतना ही अर्थ है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र से जो युक्त हैं, शोभित हैं, उनके लिये भी भगवान शब्द का प्रयोग किया जाता है।

वैदिक परम्परा में भी विद्वानों को भगवन् शब्द से संबोधित किया गया है तो वे भगवान बन गये ऐसा नहीं समझना चाहिए। जैसे

दिया कि 'तुझे जिन नहीं दिखते हैं'। इस बात को लेकर जो संशय में पड़ जाते हैं, उनका उद्धार नहीं होता। भगवान ने जो सात नय बतलाए हैं, उन्हें सात नयों एवं निक्षेपों की दृष्टि से समझना चाहिए। कौनसे नय से कौनसा अर्थ निकलता है, उसे देखने की चेष्टा करेंगे, तो सही देख पायेंगे। हम केवल चमड़े की आंखों से निर्णय करें कि मैंने प्रत्यक्ष देखा है, तो प्रत्यक्ष देखने पर भी वह कभी-कभी गलत हो जाता है। यदि आंखें ठीक भी देख रही हैं परन्तु इन आंखों में मोतियाबिंद है, तो चंद्र को देखकर भी उसके सही रूप को नहीं देख पायेंगे और एक चंद्र के दो चंद्र दीखेंगे। ये आंखों की बीमारियाँ हैं। ये आंखें तो केवल माध्यम हैं। परन्तु भीतर की आंखें यदि विकारयुक्त हैं, भीतर की ज्योति ठीक नहीं है, तो भी वह उन्हें नहीं देख पाता है। देखने की शक्ति भीतर की निर्मलता से बन पाती है। इसीलिए कवि कह रहा है कि— "दर्शन दीटे जिन तणो संशय न रहे वेध।" जिनेश्वर के दर्शन सिद्धान्त को जान लेने पर किसी प्रकार का संशय टिक नहीं सकता। जिनेश्वर भगवान ने केवलज्ञान—केवलदर्शन रूप नेत्रों से देखकर सिद्धान्तों की प्ररूपणा की है। उन सिद्धान्तों को सही रूप में परिपूर्णता के साथ देखने के लिए उन नेत्रों की आवश्यकता होती है। क्योंकि कहा गया है कि 'जितोभूत्वा जिनं पश्येत्'। 'जिन' होकर ही 'जिन' को देखा जा सकता है।

वर्तमान में 'जिन' के द्वारा बताया हुआ जो मार्ग है, वही देखा जा सकता है। परन्तु उसकी क्षमता कब आएगी ? जब, वह उस विधि को अच्छी तरह से जानता हुआ, उसे समझने का प्रयास करेगा। कभी-कभी भाई सोच लेते हैं कि हमने अमुक के दर्शन कर लिये, महाराज के दर्शन कर लिये। क्या किए आपने महाराज के दर्शन ? महाराज सा.! थोड़ा—सा चेहरा दिखा दो। देख लिया। बस, दर्शन हो गये। तो अधिकांश व्यक्ति, चमड़े तक ही सीमित रहते हैं। चमड़े के पर्दे के पीछे क्या चीज है ? इस चमड़े के पर्दे के अतिरिक्त महाराज के ऊपर कितने पर्दे हैं, अर्थात् महाराज की आत्मा कितने

किसी ने अपने बच्चे का नाम भगवान रख दिया और नामादि विशेष नहीं समझेंगे तो शंका होगी कि यह भगवान कैसे हो गया ? जिस शब्द को जिसके साथ लगाया जाए, उसका उतना ही अर्थ समझना चाहिए। भ. महावीर बिराजे हुए हैं और गौतम स्वामी उनके पास बैठे हुए हैं। भ. महावीर, गौतम स्वामी से कह रहे हैं कि "न हु जिणे अज्ज दिस्सइ।" है गौतम, तुझे आज जिन नहीं दिखते हैं। तुझे जिन का बतलाया हुआ मार्ग दिखता है। देखिए ! प्रभु महावीर स्वयं जिन रूप में साक्षात् सम्मुख उपस्थित हैं और बतला रहे हैं कि 'जिन' का अर्थ है जिन्होंने राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, मत्सर, तष्णा आदि को जीत लिया है, वह भगवान है। जीव के अंतरंग शत्रुओं को जीतने वाले, जिन कहलाते हैं। भगवान महावीर इन आंतरिक शत्रुओं को जीतकर जिन हुए। गौतम स्वामी उनको जिन समझ कर उनके पास दीक्षित हो गए। 'त्रिपदी' उन्हें जिन-भगवान ने दी। उन्होंने उसे सम्पूर्ण केवलज्ञान का सार समझा। परन्तु भगवान फिर भी कह रहे हैं कि हे गौतम ! तुझे जिन नहीं दिखते हैं। वे जिन-भगवान के पास में हैं। वे उनके चरण स्पर्श कर रहे हैं। फिर भी भगवान कह रहे हैं कि तुझे जिन नहीं दिखते हैं। इसके कई अर्थ लगाये जा सकते हैं। परन्तु, वस्तुस्थिति यह है कि गौतम स्वामी उस वक्त जिन-भगवान को देख नहीं पाते थे। परन्तु जिन-भगवान के वीतराग रूप को, जिस शरीर में वे विद्यमान थे, उस शरीर की आकृति को, वे देख रहे थे। क्योंकि उस वक्त तक गौतम स्वामी की केवलज्ञान दृष्टि विकसित नहीं हुई थी। उनके पास देखने के लिये, अंतरंग ज्ञान नहीं था अपितु केवल चमड़े की आंखें थीं। चमड़े की आंखें तो केवल बाह्य पदार्थों को ही देख सकती हैं। इनसे अतीन्द्रिय पदार्थ को नहीं देखा जा सकता। इसलिये, भगवान के वचन यथार्थ हैं। इस आशय को जो नहीं समझेगा, कह देगा कि भगवान गलत कह गए ! जब गौतम स्वामी पास में बैठे—बैठे पूछ रहे हैं, और उनके संशय का निवारण हो रहा है। इतनी—सारी बातें होने पर भी भगवान ने कह

पर्दों के पीछे रही हुई है, उनको उद्घाटित करने की चेष्टा की जाय, ऐसी स्थिति में मनुष्य नहीं पहुंच पाता। उसकी स्थिति सर्वथा गलत नहीं होती है। वह एक देश से, एक नय से सही कही जा सकती है। तीर्थकर भगवान वहाँ बैठे हुए थे। तीर्थकर भगवान का अतिशय, उनके केवलज्ञान की प्रभा, आभा—मण्डल की स्थिति आदि उनके आंतरिक अतिशय थे जिनसे वे अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा विलक्षण प्रतीत होते थे। अन्य व्यक्तियों की शारीरिक अवस्था और तीर्थकरों की शारीरिक अवस्था अलग ही दिखाई देती है। यह उनके तीर्थकर नाम गोत्र का अतिशय है। साधारण व्यक्तियों में भी एक व्यक्ति विद्वत्ता प्राप्त किये हुए है, उसका रूप, और एक व्यक्ति जिसको विशेष ज्ञान नहीं है, उसका रूप भिन्न—भिन्न ज्ञात होगा। अंदर की झलक बाहर आती है और बाहर की झलक अंदर से प्रभावित हुए बगैर नहीं रहेगी। जैसे एक पानी का घड़ा है कोरा। कल्पना कर लीजिए कि वह कहीं पड़ा हुआ है और उसमें पानी आधा भरा है। वह मिट्टी का घड़ा पानी से परिपूर्ण नहीं भरा हुआ है। अब दूर से व्यक्ति उस घड़े को देखता है, तो उसको ज्ञात होता है कि इस घड़े में पूरा पानी नहीं भरा हुआ है। यह आधा भरा हुआ है। उसने आंखों से क्या देखा ? (मेरी बात शायद आज आपको अटपटी—सी लग रही होगी) हां ! तो घड़ा ही देखा उसने। पानी को नहीं देखा— ढक्कन ढका हुआ है उस पर। परन्तु घड़े को देखकर वह बोलता है कि आधा घड़ा पानी है। तो उसके सामने प्रत्यक्ष में पानी का घड़ा आया। परन्तु थोड़ा आगे बढ़िए ! जितना—जितना पानी है उतना हिस्सा गीला लगेगा। और जहां—जहां पानी नहीं है, वह हिस्सा सूखा दिखाई देगा। इस तरह से मनुष्य अपने जीवन में जितना—जितना भरा हुआ है, उसकी झलक उसकी आकृति से, उसके जीवन से झलकती है कि किन विचारों से, कौनसी भावना से और कौनसे आचरण से यह परिपूर्ण है या अधूरा है ? इसकी स्थिति उसके जीवन से झलक जाती है। जो केवलज्ञानी अर्थात् परिपूर्ण थे, उनका शरीर रूपी घड़ा

आंतरिक भावों से प्लावित होने से, उनके अणु—अणु से वीतरागता टपक रही थी। उनको देखकर वह व्यक्ति आंखों को रोग—रहित बनाकर, देखने की चेष्टा करेगा। वह अनुमान करेगा शरीर से। परन्तु आकृति को देखकर निश्चय कर लेगा कि, ये वीतराग भगवान हैं।

तो गौतम स्वामी के पर्दा था, वह भी सत्य ही कथन किया। वह नय की दृष्टि से ठीक था। तो उन्होंने कहा कि तुम केवलज्ञानी नहीं हो, इसलिए जिन-भगवान को नहीं देख पाते हो। परन्तु मेरी आकृति को देखकर कह रहे हो कि ये जिन-भगवान हैं। तो यह भी सही है। आप कह रहे हैं कि संतों के दर्शन किए, तो यह भी गलत नहीं है। परन्तु संत का जीवन भीतर में क्या है, उसको देखने की आंखें मनुष्य की नहीं हैं। मनुष्य इन चमड़े की आंखों से, संत के व्यवहार को देखता है। भ. महावीर ने बताया है कि जो अपनी की हुई प्रतिज्ञाओं एवं मर्यादाओं का तथा अहिंसा का यतनापूर्वक पालन कर रहा है, कोई भी वस्तु गहस्थ की आज्ञा के बिना नहीं ले रहा है, बहिनों से संपर्क राग के साथ नहीं रखता है, एकान्त में बहिनों से हंसी—मजाक नहीं करता है, बिना भाई की साक्षी के स्त्रियों के साथ नहीं बैठा हुआ है— चाहे उसकी सौ वर्ष की माता भी क्यों नहीं हो। यदि स्त्रियां साधु के पास बैठकर सेवा या ज्ञानचर्चा करना चाहें तो वहां एक पुरुष और एक महिला की उपस्थिति साक्षी के लिए अनिवार्य है। यदि ऐसा है तो समझना चाहिये कि साधु का जीवन झलक रहा है। माता—पुत्र बैठे हैं, बिना साक्षी से, तो दुनिया की दृष्टि से, यह गलत है। हमारे पंडितजी — अंबिकादत्तजी कहते थे कि “यद्यपि शुद्धं लोक विरुद्धं, न करणीयम् नाचरणीयम्।” चाहे शुद्ध हो, लेकिन लोक—विरुद्ध हो तो नहीं करना चाहिये। वे तो जानते हैं, परन्तु आम जनता नहीं जानती है। वे कहेंगे कि देखो ! कौन बैठे—बैठे बातें कर रहे हैं ? लोग कहेंगे और भक्त कहेंगे कि साधु—साध्वी एक साथ नहीं बैठते हैं, परन्तु ये एकान्त में बैठे हैं।

भगवान ने तो व्यवहार की कसौटी बताई है। वह अपनी स्थिति को भी साफ रखे। रात्रि में बहिनों का आना निषिद्ध है, परन्तु दिन में भी कोई समझदार व्यक्ति नहीं हो, तो बैठने नहीं दिया जाए। उसे खड़े-खड़े ही मंगल-पाठ सुनाकर, रुकने का निषेध कर दिया जाए। साथ ही रुपये-पैसे आदि के प्रपंचों से साधु सर्वथा दूर रहे। साधु प्रपंचभरी बातों में भी नहीं पड़े कि तुम्हारे घर में क्या है, क्या नहीं है। बहुत-सी बातें साधु के लिये स्पष्ट संकेत देती हैं। जो साधु परिवार का परिचय पूछने, मंत्र-तंत्र बताने, व्यापार में तरक्की होने आदि-आदि की खटपट में पड़ता है तो समझना चाहिये कि वह अंदर से खाली है और लौकिक भावना से भरा है।

भ. महावीर ने आचारांग सूत्र में बताया कि — “जहाअंतो तहावहि”। जो अंदर है, वह बाहर आएगा। सज्ञान दर्शन, चारित्र की अनुभूति है, तो वैसी बातें कहेगा और नहीं तो चुप रह जाएगा। कई लोग कहते हैं कि हम महाराज के पास जाते हैं और वे तो बात ही नहीं करते। तो भाई ! महाराज क्या बातें करें ? महाराज को यदि बात करनी होगी, तो वे स्वयं पूछ लेंगे। परन्तु कई बातें ऐसी होती हैं कि जो लौकिक व्यवहार से सम्बन्ध रखती हैं। तो क्या महाराज ऐसी बातें पूछने बैठेंगे, कि तुम्हारे बच्चे ठीक हैं या नहीं ? व्यापार-धंधा ठीक चल रहा है या नहीं ? ये समय को बरबाद करने वाली बातें हैं। गहस्थ में तो कितनी उलझनें भरी हुई होती हैं। महाराज यदि इनमें रस लेने लगे, तब तो महाराज अच्छे लगेंगे। और नहीं बोलेंगे, तो कहेंगे कि महाराज तो बोलते ही नहीं हैं। महाराज तो सूमड़े हैं। जबकि होना यह चाहिए कि महाराज से ज्ञान, ध्यान की बातें सीखनी चाहिये। उनके अंदर ज्ञान, ध्यान की बातें हैं तो उनके अंदर से भी वही बातें निकलेंगी। और आप अपनी बातें छेड़ेंगे, तो वे भी उनमें फसेंगे। तो जो घरेलू बातों में पड़ जाते हैं, उनका ज्ञान, ध्यान में मन नहीं लगता। महाराज को यदि देखना है, तो चमड़े की आंखों से भी देखें कि महाराज शांति से आते हैं और शांति से जाते हैं और

ज्ञान-ध्यान सुनाते हैं, प्रपंच में नहीं पड़ते हैं। यह नहीं समझना चाहिये कि वे संपर्क नहीं साधते हैं तो लोगों का आकर्षण नहीं होगा। लोगों का यदि गुणों से आकर्षण है, तो महाराज यदि मौन भी रहेंगे, तो भी उनका आकर्षण हुए बिना नहीं रहेगा।

गुलाब, चम्पा, चमेली के फूल बाग में खिलते हैं, तो वे क्या किसी से बात करते हैं ? इसलिये लोग उनके पास जाते हैं ? क्या भंवरो से बात करते हैं, इसलिये वे जाते हैं ? वे खिले हुए हैं, जीवन में सुगंध है, तो वे उनके पास पहुंचते हैं। अरे ! वे सुगंध देने की चेष्टा भी नहीं करते हैं। परन्तु वे स्वयं सुगंध ले लेते हैं। भंवरे आए और मकरंद लेकर चले गए। किसी ने उनकी पंखड़ी तोड़ दी, तो अंदर से भी फूल विकसित होते हैं। वैसे ही साधु-जीवन अंदर से विकसित होता है, तो उसको देखकर हर व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

ऐसे कई प्रसंग आते हैं जब अंदर और बाहर को पहिचान सकते हैं। बाहर की आकृति से और अंदर के व्यवहार से हम देख सकते हैं। दिनकर की किरणें प्रकाशित हो जाती हैं, तो प्रकाश हो जाता है। वह अंदर से प्रभा के दर्शन भी कर लेता है। बंधुओ ! कुछ बातें ऐसी चल पड़ती हैं कि मैं बोलता ही चला जाता हूँ और सोचता हूँ कि भाइयों के पल्ले कुछ पड़ता है या नहीं ! परन्तु मैं सोचता हूँ कि आज नहीं तो कल, अवश्य समझ में आयेगी। यद्यपि बहुत-से लोग प्रबुद्ध हैं तो वे अच्छी तरह समझ सकते हैं। संभव है, जिनको संतों के पास आने का कम अवसर मिलता हो, उनको समझने में कठिनाई हो सकती है। परन्तु इससे उन्हें घबराना नहीं चाहिए। अब जो चरित्र चल रहा है उसको आगे बढ़ाता हूँ।

चारित्र

समता श्रेयकारी, तू ले जीवन में धार।
राजकन्या के समीप पहुंचें, हम भी अब कुछ सोच
सैन्य करें तैयार।

भव्यशीला राजकन्या का जीवन भी अन्य नारियों की अपेक्षा विलक्षण था। बहिनों में भी अलग-अलग वक्तियां होती हैं और बहिनों की जीवनचर्या से अलग-अलग गुण प्रकट होते हैं। राजकन्या तरुणाई की अवस्था में थी। विवाह की वेला नजदीक आ रही थी। उसका जीवन गुणों से ओत-प्रोत था। बुद्धि का प्रकाश अंदर और बाहर को प्रकाशित कर रहा था। उसके पिताश्री पर कितनी आपत्तियां आई ? कितने राजा लोग चढ़कर आए ! वे आततायी बनकर उनको लूटना चाहते थे। अगर उसके पिता अपनी सैन्य शक्ति से लड़ते, जिस वीर के साथ उसका सम्बन्ध जुड़ा, उसके पिता की सैन्य शक्ति भी लग जाती और अन्य भी कुछ पक्षवाले बन जाते। ऐसी हालत में घमासान युद्ध के सिवाय परिणाम कुछ नहीं निकलता। परन्तु इस बुद्धिमती कन्या ने सिर्फ एक पत्र से उन बलवान कहलाने वाले राजा लोगों को एक ही रात में रवाना कर दिया। जब यह आश्चर्यजनक बात हुई, तो जो पक्षवाले राजागण इनकी मदद करने के लिये आए हुए थे, वर पक्ष के राजा से मिले। उन्होंने कहा कि विवाह कन्या पर निर्भर है। हम हिंसा की संभावना को बुद्धि बल से नहीं टाल सके लेकिन राजकन्या ने यह संभव कर दिखाया। इसमें सिर्फ बुद्धि की करामात ही नहीं है, अपितु इसके पीछे कोई-न-कोई आध्यात्मिक शक्ति भी छिपी हुई है। जो आध्यात्मिक शक्ति से संपन्न है, ऐसी महिला से हम भी मार्गदर्शन ले सकते हैं। परन्तु फिर भी कन्या ने, इतने राजा लोगों को छः माह की अवधि दी है। और गुप्त रूप से ज्ञात हुआ है कि छः माह के बाद जिसको भी वह याद करेगी, वह राजा उपस्थित होगा। कितनी भी बुद्धिशाली नारी क्यों नहीं हो, जब पुरुष विकार के आधीन हो जाता है, तो उसको अन्य कोई रास्ता नहीं दिखता है और वह बलात्कार पर भी उतारू हो जाता है। मनुष्य की बुद्धि जब विकार अवस्था से घिर जाती है, तो चारित्र्य का इतना पतन हो जाता है कि परिवार की क्या इज्जत, प्रतिष्ठा है, इसका अर्जन करने में कितना समय लगा

आदि वह भूल जाता है। इज्जत बनाने में देर लगती है, गिराने में नहीं।

पिता के संरक्षण और सेना की मौजूदगी में भी जब राजकन्या के साथ जबरन विवाह के लिए राजा लोग चढ़कर आ गये तो आगे और अधिक अनिष्ट होने की संभावना को टालने के लिए, दोनों पक्ष के लोगों ने मिल-बैठकर, कोई निर्णय लेने का सोचा। दोनों पक्ष बातचीत के लिए बैठे भी, किन्तु कोई निष्कर्ष नहीं निकला। आखिर दोनों पक्ष इस बात पर सहमत हुए कि राजकन्या से ही इस विषय में परामर्श किया जाय। दोनों पक्ष राजकन्या के पास पहुंचे।

राजकन्या ने उनका यथोचित सत्कार किया और योग्य स्थान पर, उचित आसन पर बैठने का आग्रह किया। राजकन्या के लिए पर्दा बाधक नहीं बना। वह सोच रही थी कि दोनों पक्ष मेरे पिता तुल्य हैं। जनक तो पिता हैं ही, परन्तु वर के पिता भी पिता हैं। उसने चरण स्पर्श करके कहा कि आपने मेरी झोंपड़ी में चरण रखे, मैं धन्य बन गई। परन्तु एक बात अवश्य है कि आप महानुभाव मुझे बुला सकते थे। आपने कष्ट क्यों किया ? तब उन्होंने कहा कि पुत्री ! क्या कहें ! विनय की दृष्टि से तो तू विनय की पुतली है। तू दूसरे के मन को आकर्षित कर लेती है। जो विनयवान होता है वह अभिमानी को भी झुका लेता है। हम दोनों उलझे और हमारे मस्तिष्क में तनाव हुआ। हम समस्या का हल नहीं कर पाए। और हम तुम्हें बुलायें कि हल करो, तो यह योग्य नहीं रहेगा। हम चलकर आए हैं। इसलिए कि तुम छः महीने के बाद अपना कार्य करोगी। हमारा क्या कर्तव्य है ? और हम कैसे आपकी रक्षा कर सकेंगे ? इस प्रकार सारी समस्या रख दी कि तुम एक-एक राजा को बुलाओगी और वे भी हाथी की तरह मदोन्मत्त बनकर आयेंगे। शांति नहीं रही तो वहां डंडे की आवश्यकता रहेगी। तो हम मदद करेंगे।

यह सुनकर कन्या ने कहा कि आपका यह सोचना योग्य है। मैं भी सोचती हूँ, कि यह आध्यात्मिक जीवन और चारित्र्य की सुरक्षा भव्य लोगों के लिये आवश्यक है। क्रूरकर्मी लोगों के लिये यह ज्यादा

आकर्षक नहीं होता। क्रूरकर्मी तो न जाने कब क्या कर बैठें। रावण के बाप भी बन जाते हैं। कभी-कभी सुनने को मिलता है कि रावण ने एक मर्यादा तो रखी कि सीता पर बलात्कार नहीं किया। रामायण के अंदर जो प्रकरण आया उसको लोग नहीं पकड़ते हैं। रामायण में तुलसीदासजी ने बात रखी है कि रावण योगी के रूप में गया और सीता को उठाकर लाया। उन्होंने यह वर्णन देकर, दुनिया को यह सूचित किया कि हे दुनियादारो ! तुम सावधान रहना। यह तो रावण अभी हुआ है। परन्तु कलियुग में कितने ही रावण पैदा हो जायेंगे जो तुम्हारी कन्या रूपी सीता को उठाकर ले जाएंगे। किस रूप में कौन आ जाएगा ? जहां तक मेरे व्यवहार का प्रश्न है, मैं उनको सच्चे रास्ते पर लाने की चेष्टा करूंगी ? यदि हलुकर्मी आयेंगे तो समझ जायेंगे। परन्तु जो जिद्दी होंगे, हठाग्रही होंगे, तो हाथ में शस्त्र भी पकड़ना पड़ेगा। शस्त्रबल का सहारा भी लेना पड़ेगा। परन्तु ज्यादा शस्त्र इकट्ठा करने की आवश्यकता नहीं है। आप जनता में नैतिकता जगायें। आप उन्हें इकट्ठा करके कहें कि यह कार्य कर रहे हैं। सामाजिक धरातल पर समझाकर जो कार्य होता है वह आबाल-वद्ध सबके लिये हितकारी होता है। समता के भाव लिये जो आदर्श पुरुष सामने आते हैं वे नैतिकता को समर्थन देते हैं। हम पक्ष को मजबूत करने की चेष्टा करें। जो शुद्ध हैं; मोह में उलझे हुए नहीं हैं, उन शुद्ध विचारवालों का एक दल बना लें और जनमानस में एकता फैलायें। नैतिकता एवं गुणसंपन्न जीवन की प्रतिष्ठा बढ़ायें। जब बड़े-बड़े पुरुष नैतिक व्यक्तियों का सत्कार करेंगे, गुणियों का सत्कार करेंगे तो हमको भी गुणवान बनने की प्रेरणा मिलेगी। यदि चरित्रहीनों को प्रश्रय देते हैं तो जनता का भी मनोबल टूट जाता है। वे सोचते हैं कि ये चार सौ बीसी कर रहे हैं और इनको सत्कार मिलता है, तो वे भी चार सौ बीसी का धंधा सीख जाते हैं। आज भी यही हो रहा है। आज मनुष्य के गुणों का सन्मान नहीं है। परन्तु जो लुच्चे-लफंगे हैं उनका सत्कार-सन्मान हो रहा है। इधर तो चिल्लाते हैं कि नैतिकता का हास हो रहा है और उधर प्रश्रय अनैतिकता को दे रहे हैं। हमारे जीवन का लक्ष्य कुछ और है और हम कुछ अन्य

कर रहे हैं। इधर तो आंदोलन करते हैं और संसार में एकता फैलाने की चेष्टा करते हैं। वे चिल्लाते हैं कि आग लग रही है, बुझाओ ! और इधर अनैतिकता को प्रश्रय देते जा रहे हैं। तो कन्या ने कहा कि आप इस प्रकार का वायुमण्डल पैदा करें। छः महीने तक मैं अपना कार्य करूँ और आप अपना कार्य करें। मैंने प्रभु का रास्ता अपनाया है तो आपको कोई दूसरी शक्ति अपनाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। परन्तु मैं दावा नहीं करती। दोनों पक्ष के राजा, वैसा ही वायुमण्डल बनाने की कोशिश करने लगे। और वह कन्या अपना कार्य कर रही है। अब आगे क्या प्रसंग बनता है, यह यथावसर आगे बताया जायेगा।

इत्यलम्

स्वयं को स्वयं से देखो, चर्मचक्षुओं से नहीं

प्रार्थना

विमल जिन दीठा हो लोयण आज, मारा सिंध्या वांछित
काज अमीय भरी मूरति रची रे, उपमा न घटे कोय;
शांत सुधारस झीलती रे, निरखत तप्ति न होय।। वि. दी.

।।

बंधुओ ! भव्य जीवों का अंतर मानस, अंतर भावना, तीर्थकर देव के उस पवित्र स्वरूप की ओर लगी है जिस स्वरूप को पा करके, वे सदा-सदा के लिए निर्मलता के अवस्थान, पवित्र परिपूर्ण स्थान को पा गए। जिन आत्माओं ने सिद्धान्त का अध्ययन किया, आगम-वाणी का श्रवण किया या शास्त्रों में उल्लिखित विवेचन को पढ़ा, वे यह जानती हैं कि प्रत्येक आत्मा अनादि काल से कर्माधीन होकर इस संसार सागर में परिभ्रमण करती हुई आई है। उसी प्रकार जिन-अवस्था में पहुँचने वाली आत्मा, भगवान विमलनाथ की प्रार्थना की जा रही है। वही भगवान विमलनाथ की आत्मा, संसारी प्राणियों के साथ भी एक दिन रही हुई थी। वह आत्मा अनेक रिशतों, नातों के साथ संबंध जोड़ती हुई आई है। विमलनाथ भगवान की आत्मा के साथ आपने भी सम्बन्ध जोड़े हैं। उनकी आत्मा के साथ कितने सम्बन्ध किये, इसका सही विवरण तो तीर्थकर भगवान ही दे सकते हैं, परन्तु उनकी वाणी के आधार पर प्रत्येक आत्मा का प्रत्येक आत्मा के साथ सम्बन्ध रहा हुआ है। भूतकाल में सम्बन्ध रहा। पिता,

पुत्र, माता, बन्धु, पत्नी आदि न मालूम किन-किन सम्बन्धों से सम्बद्ध हुए। परन्तु हमारे साथ रहने वाली भ. विमलनाथ की आत्मा, इसी मनुष्य जीवन को पाकर, अपने स्वरूप को प्राप्त कर, मोक्ष में पहुँच जाती है और जब यह बात भव्य जीवों को ज्ञात होती है, तो उनके मन में स्वाभाविक रूप से जिज्ञासा होती है कि हाय ! हमारे साथ रहने वाले, हमारे साथ खेलने वाले, हमारे साथ अनेक सम्बन्ध जोड़ने वाले, वे भ. विमलनाथ आज हमसे दूर चले गये। मोक्ष में पधार गए और हम वहीं के वहीं रह गए। यह हमारे लिए कितना चिंतनीय विषय है ! इसी भावना से विवेकशील व्यक्ति विमलनाथ भगवान को उसी दृष्टि से देखना चाह रहे हैं। प्रार्थना के प्रसंग से प्रभु को देखने की चेष्टा कर रहे हैं। प्रभु के दर्शन इन चर्मचक्षुओं से यथारूप नहीं हो सकते। उसके लिये आभ्यन्तर चक्षुओं की आवश्यकता होती है। इन चमड़े की आंखों का ज्ञानीजन विशेष मूल्यांकन नहीं करते हैं। इन चर्मचक्षुओं से देखता हुआ मानव, कभी अंधे के तुल्य कार्य कर गुजरता है। कवि आनन्दघनजी ने कविता के माध्यम से इसी बात को स्पष्ट किया है कि- “चर्म नयणे करी मार्ग जोवता रे भूल्यो सयत्न संसार, जेणे नयणे करी मार्ग जोइये रे नयनाते दिव्य विचार, पंथडो निहारू रे बीजा जिन तणूं रे। अजित, अजित गुण धाम। जे ते जीत्या ते मुझ जीतिया रे पुरुष किश्यो मुझ नाम।”

भगवन् ! मैं चमड़े की आंखों से देखते-देखते सम्पूर्ण संसार में भटक गया। यह ध्यान भी नहीं रहा कि मेरा स्वरूप क्या है ? मैं इस शरीर में रह रहा हूँ अथवा नहीं ? परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि शरीर को मैं जितना देख रहा हूँ, उतना मैं शरीर के स्वामी को देख नहीं पा रहा हूँ। शरीर के भीतर में रहने वाले राजा को देखने की चेष्टा नहीं कर रहा हूँ। मैं ही नहीं, परन्तु आम जनता की स्थिति भी वैसी ही हो रही है। कवि ने कहा कि इन आंखों से परमात्मा का स्वरूप नहीं देखा जा सकता, आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता। आत्मा एक दृष्टि से अरूपी है। जैसा कि शास्त्रकार

ने उल्लेख किया कि— “नोइंदियगेज्जअमूर्तभावा” अर्थात् अमूर्त तत्त्व इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं होता। उसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नहीं होता। तो इन आंखों से कैसे गहन किया जा सकता है ? ये आंखें तो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श को देख पाती हैं। परन्तु अमूर्त तत्त्व को नहीं देख पाती हैं। जहां इन आंखों से देखने का प्रसंग आता है, तो मूर्त एवं अनित्य पदार्थ ही देखती हैं। नित्य पदार्थ को नहीं देख पाती हैं। जो आप देख रहे हैं, वह सदैव स्थायी नहीं रहने वाला है और जो स्थायी है, उसको देख नहीं पा रहे हैं। इसीलिये कवि ने संकेत किया कि इन चमड़े की आंखों से व्यक्ति अमूर्त तत्त्व को देख नहीं पाता। वैदिक ग्रन्थों में, राजा जनक का उल्लेख आया है। राजा जनक की आध्यात्मिक विषयों में विशेष रुचि थी। नाम से कोई भी राजा क्यों नहीं हो। किसी भी मनुष्य की कैसी भी अवस्था में रहने की स्थिति क्यों न हो ! परन्तु जिसकी चेतना अंदर की ओर मुड़ती है और मनुष्य जीवन में आकर के उस स्थायी तत्त्व को खोजने की इच्छा पैदा होती है, वह व्यक्ति संसार का कार्य करता हुआ भी, इन संसार के पदार्थों से भी परे पदार्थ को खोजने की चेष्टा करेगा। वह घर—गहस्थी का भी निर्वाह करेगा, परन्तु उनमें लिप्त नहीं होगा। अपनी जिम्मेदारियों का निर्वाह करते हुए भी वह निर्लिप्त रहने की चेष्टा करेगा। यह तो आपको श्रवण करने को मिला होगा कि—

सम्यग्दष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।

अन्तरगत न्यारो रहे, ज्युं धाय खिलावे बाल।।

जैसे धाय माता दूसरे के बच्चे को खिलाती—पिलाती है, नहलाती—धुलाती है। सब—कुछ मातवत् कार्य करती है। उसका यथेष्ट रूप से लालन—पालन करती है। परन्तु अंदर से समझती है कि यह लाला मेरा नहीं है। वैसे ही, जिस आत्मा ने इस भौतिक जगत् में जड़ और चैतन्य के स्वरूप को समझा, सम्यक् दष्टि के रूप से देखना चालू किया और यह सोचने लगा कि संसार के भीतर

दो तत्त्व काम कर रहे हैं— एक जड़ है, दूसरा चैतन्य। चैतन्य तत्त्व ही जड़ पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकता है। जड़ पदार्थ में कोई क्षमता नहीं कि वह कुछ विधिवत् काम कर सके। आप इस छत (टिन शेड) के नीचे बैठे हुए हैं। कहिए ! इसकी रचना किसने की ? क्या इसकी रचना इन टिनों ने की या किसी चैतन्य पुरुष ने — कारीगर ने की ? उद्योगपति ने अपने कारखाने में इनका निर्माण कराया और यह बैठने के काम आया। परन्तु यह छत नहीं समझती है कि मैं छाया दे रही हूँ। इसको ज्ञान नहीं है कि मैं इस रूप में हूँ। जबकि यह ज्ञान इस चैतन्यदेव को है, आत्मा को है। इसलिये यह आत्मा सब काम करती हुई अपने-आप में निर्लिप्त रह सकती है। संसार के पदार्थों में उथल—पुथल भी कर सकती है। बुरे से बुरा और अच्छे से अच्छा कार्य करने वाली भी आत्मा ही है। यह आत्मा, वर्तमान में शरीर पिण्ड में रूपी (मूर्त) रूप में रही हुई है। वह अपने सही स्वरूप को खोजने की चेष्टा करती है। चाहे कितना ही बड़ा परिवार हो, परन्तु वह आसक्त नहीं बनती। निर्लिप्त रहती है। वह सब कार्य करती हुई भी अमूर्तभाव का चिन्तन करने में व्यस्त हो जाती है।

राजा जनक भी एक राजा थे। राज्य कार्य संभालते थे और राज्य कार्य से निवृत्त होने पर राज्य कर्मचारियों, सभासदों के साथ बैठते और हम कैसे निर्मल और पवित्र बनें, इसी भावना का चिन्तन करते थे। साथी लोग भी इसमें लग जाते थे। आज भव्य जीव, क्या अपना घरेलू कार्य करते हुए कभी आध्यात्मिक चिन्तन में भी बैठते हैं ? और यदि धर्म स्थानों पर पहुँचते हैं तो वहाँ पहुँचकर भी वे धार्मिक दष्टि से इस अमूर्त चैतन्य को खोजने की चेष्टा करते हैं या संसार के पदार्थों को देखने की चेष्टा करते हैं ? क्या वे अपने बाह्य नेत्रों से भीतर झाँकने की चेष्टा करते हैं ? परन्तु राजा जनक ने एक दिन सभासदों से अपनी जिज्ञासा वृत्ति प्रकट की और ऐलान करवाया कि इस संसार में यदि कोई पुरुष मुझे इस आत्मा को दिखा दे, ब्रह्म के दर्शन करा दे, तो मैं उसे बहुत बड़ा इनाम देने को

तैयार हूँ। इस घोषणा को सुनकर बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान अपनी मस्तिष्क शक्ति से सोचने लगे कि हमारे पास विद्वत्ता है, हमारे पास आध्यात्मिक ज्ञान है। उन्होंने विविध तरीके से सोचा, समझा और समय पर राजा जनक की सभा में उपस्थित हो गए। वहां ब्रह्म की चर्चा चलने लगी। परन्तु एक ऋषि सीधी-सादी अवस्था में चिंतन करने लगे कि मैं भी राजा जनक की सभा में पहुँचकर, आध्यात्मिक रस का आनन्द लूँ कि ब्रह्म चीज क्या है ? जब वहां इतने विद्वान एकत्रित होंगे और वे सब इसका प्रतिपादन करेंगे और जब ब्रह्म के दर्शन राजा जनक को करायेंगे, तो मैं भी कर लूँगा। इसी भावना से और जिज्ञासा वृत्ति से, वह राजभवन के द्वार के निकट पहुँचा। द्वारपाल के द्वारा राजा से निवेदन कराया कि आप की सभा में एक ऋषि आना चाह रहे हैं, तो आपकी अनुमति हो तो वह सभा में प्रवेश करें। जब द्वारपाल ने जाकर जनक के सामने ऋषि का निवेदन रखा, तो राजा जनक सोचने लगे कि यहाँ पहुँचने वाले सभी विद्वानों को मैंने निमंत्रण अवश्य दिया है, परन्तु इन महानुभावों में से किसी ने आने की मुझसे अनुमति नहीं ली। परन्तु यह ऋषि अनुमति ले रहा है, तो संभव है कोई विशिष्ट ज्ञानी हो। यह नैतिकता का पालन करने वाला तो है ही, यह शिष्टाचार का पालन करने वाला भी है। तभी वह सभा में प्रवेश करने की अनुमति चाह रहा है। सभा में प्रवेश करने वाले सभासदों को इस सभा के नियमों, उपनियमों को, रीति-रिवाजों और व्यवहार को समझना ही चाहिये। जो सभा-सोसायटी के नियमों को नहीं समझता, वह शिष्ट पुरुषों में अच्छा नहीं समझा जाता। यह तो सबको सोचना ही चाहिये कि हम कहाँ पहुँच रहे हैं ? धार्मिक सभा में पहुँचें, तो वहां के नियम क्या हैं, इसका भी ज्ञान होना चाहिये। वहां के पूरे शिष्टाचार का पालन करना चाहिये। यह नहीं होना चाहिए कि आदत के अनुसार बाजार में जैसे चलते हैं, वैसे ही धर्मसभा में भी पहुँच जाएं। यह वीतरागदेव की सभा का सवाल है।

जहां तीर्थंकर की सभा का प्रसंग आया, तो वहां बताया गया

कि कोई भी साधक भगवान के समीप पहुँचे तो नियम के साथ जाए। पांच अभिगम बताये गये हैं। जहाँ सचित्त और अचित्त की बात बताई, तो धर्मसभा में जाने वाले व्यक्ति को सचित्त पदार्थ साथ में लेकर नहीं जाना चाहिए। जैसे इलायची का डोडा, फूलमाला या अन्य तरह के सचित्त पदार्थ, सेल से चलने वाली घड़ियां – ये भी लेकर नहीं पहुँचना चाहिये। यह वीतरागदेव की सभा के शिष्टाचार का सवाल है। कोई अभिमानसूचक मुकुट आदि सिर पर है तो उसको भी दूर करना चाहिये। प्रवेश करते ही समवसरण में उत्तरासन लगाएं। आप लोगों को संत भी कई बार सूचना देते हैं कि संतों के समीप उत्तरासन, मुंहपत्ती या रूमाल रखकर ही आना चाहिये। कई भाई तो याद रखते हैं और कई बहुतेरी बातें सुनकर भी भूल जाते हैं। अधिगम का पालन करना धर्मसभा के नियमों का तकाज़ा है। परन्तु राजा जनक सोच रहे हैं कि मेरी सभा में अन्य सभी विद्वान पहुँचे, परन्तु उन्होंने सभा के नियम का पालन नहीं किया और ये ऋषि अंदर प्रवेश करने की अनुमति चाह रहे हैं। तो संभव है प्रत्येक छोटे कार्य में भी ये विवेक रखते होंगे। जहां विवेक होता है वहां अवश्य ही आध्यात्मिक दृष्टि भी होगी। क्योंकि जो अंतर को देखने की क्षमता रखता है, वह कभी नैतिकता के नियमों का उल्लंघन नहीं करेगा। वह कभी शिष्टाचार का उल्लंघन नहीं करेगा। यह ऋषि भी अनुमति चाह रहा है तो यह बात सूचित कर रही है कि यह आध्यात्मिकता का ज्ञाता होना चाहिये। इस सभा में बड़े-बड़े विद्वान पहुँचे हैं, ये ब्रह्म ज्ञान करायेंगे। यह ऋषि अवश्य ही बहुत-सारा ज्ञान करायेंगा। राजा जनक और सभासदों में उत्साह की जागति हुई। वे सब बड़ी उत्सुकता से देखने लगे। वे सोचने लगे कि हम सब आए परन्तु अनुमति नहीं ली। यह कैसा विशिष्ट आध्यात्मिक योगी है जो अन्दर आने की अनुमति ले रहा है ? हम भी चाह रहे हैं कि वे ऋषि यथाशीघ्र सभा में प्रवेश करें। वे मन में यह भी सोच रहे थे, हम आध्यात्मिकता के संबंध में कितनी गहराई में हैं। यद्यपि हम धर्म की बातें तो लंबी-चौड़ी कर लेते हैं। हमारा ऊपर का

लिफाफा कैसा है और अंदर में कैसा है ? हम अंदर से खाली हैं। केवल ऊपर का दिखावा कर रखा है। परन्तु इस दिखावे की लाज रह जाए, ऐसा कोई व्यक्ति आए तो अच्छा है। हम यही अभिलाषा कर रहे हैं। कहावत भी है कि— “एक सती नारी और नगर सारा।” नगर में एक सती भी पैदा हो जाए, तो सारे नगर का नाम ऊंचा हो जाता है। सब टकटकी लगाकर देख रहे हैं। उनकी दृष्टि द्वार की ओर जा रही है कि वे कब आयें और कब हम अपने मन की तपित करें। उधर ऋषि भी चाह रहे हैं कि जितने विद्वान आए हैं, तो वे इन्द्रियों से परे ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान करवाने वाले होंगे। मैं भी जाकर सुनूंगा। उनकी भी इच्छा सभा में पहुँचने की बनी। जैसे ही वे द्वार पर आकर खड़े हुए, तो द्वारपाल ने राजा को संकेत दिया कि हुजूर ! ये वही ऋषि हैं, जिन्होंने अंदर आने की अनुमति चाही थी। बस इतना ही कहना था कि वहां जितने भी सभासद बैठे हुए थे, उनकी हंसी का फव्वारा फूट पड़ा। वे अट्टहासपूर्वक जोर—जोर से हंसने लगे और बहुत देर तक हंसते ही रहे। परन्तु ऋषि उसी गंभीरता से चुपचाप खड़े रहे। जब सभासदों ने हंसना बंद किया, ऋषि जोर—जोर से हंसने लगे। जब उनका भी हँसने का कार्य बंद हो गया, तब राजा जनक के मन में एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई। ऋषि से पूछा कि ऋषिवर ! सब लोग हँसे, परन्तु आप नहीं हँसे — गंभीर मुद्रा में खड़े रहे और जब सबका हंसना बंद हुआ तब आप हंसने लगे, तो इसका रहस्य क्या है ?

उत्तर में ऋषि ने विचारों की गहराई में जाते हुए कहा, राजन् ! आप मुझसे पूछते हैं रहस्य ? आप पहिले उन लोगों से पूछिए कि वे क्यों हँसे ? इसका इंसाफ आप कीजिये ! तब राजा ने कहा, ऋषिवर ! बात सही है आपकी। राजा ने उन सभासदों से पूछा कि आप क्यों हँसे ? तो उनमें से एक विद्वान ने खड़े होकर कहा कि राजन् ! जिस शाश्वत तत्त्व की जिज्ञासा और आध्यात्मिक पिपासा हमारे अंदर उमड़ रही थी उसके अनुरूप कोई विलक्षण व्यक्ति होना चाहिए था, परन्तु जैसे ही हमने इन्हें सामने खड़ा पाया, तो इनकी

शरीराकृति को देखकर हंसी छूट गई। बंधुओ ! ये अष्टावक्र नाम के ऋषि थे। आठ जगह से उनका शरीर टेढा—मेढा था, रंग—रूप भी तवे के समान काला था। जब इनका विकृत रूप देखा तो बरबस हंसी छूट गई और सोचा कि आत्मा—परमात्मा के बारे में यह क्या बताएगा ! यह क्या ब्रह्मज्ञान देगा ! इस कारण से हंसी आ गई। राजन् ! मैं धर्मसभा में झूठ नहीं बोलना चाह रहा हूँ। हम सत्य—सत्य बात कहना चाह रहे हैं। उसके यह कहते ही सभी ने समर्थन के रूप में अपने हाथ खड़े कर दिये। यह बात सुनने के पश्चात् राजा जनक ने ऋषि से पूछा कि ऋषिवर ! आप भी हंसी का कारण बताइये। तो अष्टावक्र ऋषि ने कहा — राजन् ! मैं भी इसी जिज्ञासा से यहाँ आया था कि, इस सभा में बहुत बड़े मनीषी, तत्त्ववेत्ता, विद्वान बैठे होंगे और वे आध्यात्मिकता का स्वरूप जानते होंगे, ब्रह्मज्ञान के ज्ञाता होंगे ! परन्तु ज्योंही मैंने सबको अट्टहास करते हुए देखा, तो मेरी भी हंसी रुक नहीं सकी। मैंने सोचा कि अरे ! इस सभा में तो तत्त्वज्ञों की बजाय सब चमार ही चमार बैठे दिखाई दिये। सही यही है कि चमड़े की दृष्टि, चमड़े को ही देखती है। उनका कथन सत्य था। उन विद्वानों ने भी यही अर्थ लिया। उन्होंने सच्चाई से, तहेदिल से इस बात को स्वीकार किया कि ऋषिवर का कहना ठीक है — यथार्थ है। हमारे अंदर शून्यता है। हम धर्म के मर्म को नहीं समझ सके। हमारी दृष्टि चमड़े तक ही सीमित रही। चमड़े की परख करने वाला चमार ही होता है। वह चमड़े की परीक्षा करता है। यह सत्य है कि जिसके पास जो व्यवसाय है, वह उसको उसी रूप में देखता है। कपड़े का व्यापारी है, तो वह कपड़े की परीक्षा करेगा। क्योंकि वह उसी व्यवसाय में माहिर है। सोने—चांदी वाला सर्राफ सोने—चांदी को देखता है। कपड़े वाला कपड़े का परीक्षण कर सकता है। परन्तु कपड़े का व्यापारी, सोने—चांदी का व्यापारी या अन्यान्य वस्तुओं के व्यापारी, आध्यात्मिकता को नहीं देख पाते हैं। उसको देखने के लिये तो दिव्य चक्षु की आवश्यकता होती है। और वह आध्यात्मिकता अंदर की साधना से प्राप्त होती है।

मैं बता रहा था कि तीर्थकरों ने अपने दिव्य चक्षुओं द्वारा सारे संसार को देखा था और संसारी लोग तीर्थकरों के अतिशय को देखकर चमत्कृत होते थे ? तीर्थकरों के आत्मिक वैभव का प्रभाव उनके शरीर पर भी परिलक्षित होता है। आध्यात्मिक प्रकाश से उनका शरीर भी आभा—मण्डल से मण्डित होता है। उनके मुखमण्डल से शान्तरस की धारा प्रवाहित होती है। मानतुंगाचार्य ने भगवान ऋषभदेव की स्तुति करते हुए कहा कि भगवन् ! मैं क्या स्तुति करूं सबके सब शांत रस के परमाणु आपके शरीर में आकर लग गए। यदि वे और भी होते तो दूसरे भी अमीरस वाले मिलते। यह उपमा अलंकार है। इसका अर्थ है कि, जो व्यक्ति अपने जीवन को सजाकर चलता है, तो उसके भीतर से जो अमीरस झरता है, अमृत की धारा बहती है, वह उसको तो प्रभावित करती ही है, परन्तु आस—पास के लोगों को भी प्रभावित किये बिना नहीं रहती। तीर्थकर देव के समवसरण में जन्मजात वैर—विरोध रखने वाले पशु—पक्षी आदि भी पहुंचते हैं और वे वैर—विरोध भूल जाते हैं। शेर बैठा हुआ है और उसके सामने बकरी भी बैठी हुई है। वहां क्या हो गया ? वहां वैर—विरोध कैसे शमन हो गया ? तीर्थकर भगवान की छटा, अहिंसा की प्रतिष्ठा, जीवमात्र के प्रति करुण रस की धारा भगवान के अणु—अणु से निकलकर वहां व्याप्त हो गई। उस अमीरस का आनन्द सब लेने लगे थे।

संसारी आत्मा अपनी शक्ति से शरीर की रचना करता है। उस आत्मा की शक्ति को शास्त्र में 'पर्याप्ति' कहा जाता है। छह पर्याप्तियों से बना हुआ यह मानव शरीर केवल हाड़—मांस का पुतला ही नहीं है। इसमें चैतन्यदेव विराजमान है। इस चैतन्यदेव के दर्शन करने से, उसके स्वरूप को पहचानने से ही इसकी सार्थकता है। इसलिये बाह्य सौन्दर्य से ऊपर उठकर आत्मा के सौन्दर्य को देखना चाहिये। शरीर को सजाने की बजाय आत्मा को सजाना चाहिये। आजकल मेरे भाई—बहिन ऊपरी तौर पर सब—कुछ देखने की चेष्टा

करते हैं। आप यहां सामायिक लेकर बैठे हैं। आपने मुंह पर मुंहपत्ती लगा रखी है। तो क्या मुंहपत्ती सामायिक हैं ? मैं आप से पूछूं कि सामायिक कहां है ? क्या मुंहपत्ती और चादर ही सामायिक है ? नहीं ! समभाव ही सामायिक है। हमारी राग—द्वेष की परिणति कम हो और वह जीवन से झलके। तभी समझिए कि हमने इस वेश को धारण कर सच्ची सामायिक की है। साधु की पहिचान क्या है ? मुंहपत्ती, ओघा (रजोहरण), पात्र। इन साधनों से भी साधु जीवन की पहिचान होती है। परन्तु यह वेश संयम नहीं है। यदि व्यक्ति इस वेश को ही संयम समझ लेता है, तो वह आध्यात्मिक स्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकता। संयम, शरीर के माध्यम से आत्मा के अन्दर से प्रकट होता है।

शास्त्र में चार प्रकार के संत बताए हैं। टाणांग—सूत्र के चौथे टाणे में बताया गया है कि एक व्यक्ति भाव से साधु है, परन्तु वेश की दृष्टि से साधु नहीं है। दूसरा व्यक्ति वेश से साधु है, भाव से नहीं है। तीसरा व्यक्ति, भाव से और वेश से भी साधु है और चौथा व्यक्ति तो न तो भाव से और न ही वेश से साधु है। यह चौभंगी है। उसमें बताया है कि जो भाव से साधु है परन्तु वेश से नहीं है, तो उसका भी पता नहीं लगता है। ऐसे प्रसंग पर कभी ठगाई भी हो सकती है। क्योंकि भाव को तो तीर्थकर के दिव्य चक्षु ही देख सकते हैं। भाव अणु—अणु में समा नहीं जाता तब तक पता नहीं लगता है और दूसरा वेश से है, परन्तु भाव से नहीं है। तो वहां भी धोखाधड़ी है। उसमें भी तथ्य नहीं है। तीसरा भंग है, भाव से भी साधु है और वेश से भी साधु है। यदि भाव से साधुपणा आ गया, तो फिर वेश सजाने में देरी नहीं आएगी। देखिए ! मरुदेवी माता भावों से मोक्ष में पहुंच गई। उनमें भाव से साधुपणा आ गया था। यदि उनका आयुष्य अवशिष्ट होता तो वेश सजाती। भरत महाराज को आरीसा भवन में साधुपणा आ गया। वे बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान पर पहुंच गए। चौथा गुणस्थान सम्यक्दृष्टि का है, सातवां साधु का है।

तो ये गुणस्थान पार करते हैं, तब केवलज्ञान होता है। भरत महाराज जब आरीसा भवन में खड़े थे, तो आध्यात्मिक चिन्तन करने लगे। वे धायमाता की तरह थे। वे साधु-जीवन की सीमा में पहुंचे। और चरम सीमा में पहुंचकर केवलज्ञानी हो गए। केवलज्ञान होने पर मोक्ष नहीं रुक सकता। अभी उनका आयुष्य अवशेष था, तो उन्होंने साधु जीवन का वेश धारण किया और केवलज्ञानियों की परिषदा में बैठ गए। इसलिये शास्त्रकार ने बताया कि आध्यात्मिक चिन्तन करना चाहिये। वेश को वेश समझना चाहिये। जब दिव्य दृष्टि खुलती है, तभी इनसान आगे बढ़ सकता है। हम भी धर्मसभा में चिन्तन कर रहे हैं। शास्त्रों का कथन है कि अमूर्त भाव को इंद्रियों से ग्रहण नहीं कर सकते हैं। वहां तर्क भी नहीं पहुंच सकता। वैदिक शास्त्र में कहा है कि “नेति नेति”—ब्रह्मस्वरूप अगम्य है। वह ‘ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है’ इस रूप में ज्ञात होता है। जिन आत्माओं को यह भान हो जाता है तो वे किसी भी परिस्थिति में क्यों न हों, अपने जीवन को सजाने की चेष्टा करती हैं।

चरित्र

अब चल रहे चरित्र को आगे बढ़ाता हूं। पहले कहा जा चुका है कि वह भव्यशीला घरेलू कार्य करती हुई भी चिन्तन करने वाली थी।

राजकन्या भी आंविळ तप को

मन में इष्ट जाप हितकारी

समता श्रेयकारी, तू धार सके तो धार।

भव्यशीला का बचपन का जीवन आध्यात्मिक रस से ओत-प्रोत था। अभी परिपूर्ण साध्वी नहीं बनी थी। उसको जीने की आकांक्षा थी। तो सांसारिक दृष्टि से कार्य करती हुई दुनिया के सामने आदर्श

उपस्थित करना चाहती थी। समय आने पर उसने स्पष्ट कह दिया वह समान गुण वाले के साथ संबंध जोड़ना चाहती थी। जो जैसा चाहता है, उसको वैसा मिल जाता है। दढ़ संकल्प था तो वर भी वैसा मिला। दोनों शादी करने की तैयारी करने लगे। परन्तु जिन लोगों को आडम्बर की प्रवृत्ति पसंद थी वे इस बात को पसंद नहीं करते थे। वे सादगी से विवाह करना अपनी कमजोरी समझते थे। वे आडम्बर को ही अच्छा समझते थे। किसको कहते हैं आडम्बर ? जहां मकान को बिजली से सजाया जाए, जगमगाया जाए, खूब आतिशबाजी की जाए और अनेक तरह के बैंडबाजे बजाए जायें तो उसको आडम्बर कहते हैं। परन्तु जनसमूहों के एकत्रित होने को आडम्बर नहीं कहा जाता है। कभी लोग कह देते हैं कि इतने लोग इकट्ठे हो गए तो आडम्बर हो गया। परन्तु यदि एकत्रित होना ही आडम्बर कहा जाए तब तो तीर्थकर भगवान की सभा में, समवसरण में तो बारह प्रकार की परिषदा पहुंच जाती है और समवसरण की रचना होती है, देवों के द्वारा। परन्तु उसको आडम्बर नहीं कहा जाता है। आडम्बर का अर्थ है— जहां बिजली की चीजें — जहां बिजली से जीवों की हिंसा होती है और जहां फिजूल खर्च करके सजावट (डेकोरेशन) किया गया हो, जहां साधारण स्थिति के लोग आने में संकोच करते हों, हीन भावना उनमें आती हो और जहां ऐसी परिस्थितियां पैदा की गई हों उसे आडम्बर कहा जाता है। परन्तु जहां बैंड-बाजे की आवश्यकता, बिजली की आवश्यकता और हीन भावना पैदा करने वाले डेकोरेशन (सजावट) की आवश्यकता नहीं हो और सीधे-सादे तरीके से बैठने की व्यवस्था की जाती हो, तो वह आडम्बर नहीं है। हां ! तो कुछ राजा लोग यही चाह रहे थे कि यह सीधे-सादे तरीके से विवाह करना चाहती है और सबके साथ हमदर्दी दिखाना चाहती है, तो बहुत अच्छी बात है। परन्तु अधिकांश राजा लोग सोचते थे, कि यद्यपि यह बात तो अच्छी है और हम भी इसे पसंद करते हैं। पन्तु भव्यशीला ने जब गरीब के साथ हमदर्दी

दिखाकर शादी कर ली तो राजा लोगों के सिंहासन डोल जायेंगे। तो उनको चिंता थी अपने सिंहासन हिलने की। और उन्होंने इसीलिये विरोध किया और घेरा भी डाल दिया। और इस घेरे को जहां वर पक्ष और कन्या पक्ष वाले भी नहीं हटा पा रहे थे, परन्तु इस भव्यशीला कन्या ने अपने इष्टदेव के प्रभाव से सबको बिना किसी विघ्न—बाधा के रवाना कर दिया। उन सबको कह दिया कि आप सब अभी चले जाइए ! मैं छः महीने तक साधना करूंगी। और इस अवधि के बाद मैं, जिस राजा को याद करूंगी तो वही आएगा। तो सूचना पाकर सब राजा लोग चले गए। और इधर जब कन्या पक्ष के सदस्य और वर पक्ष के सदस्य आकर कन्या से परामर्श करने लगे और कन्या के परामर्श के अनुसार कार्य करने लगे। राजकन्या ने उनको यह भी परामर्श दिया कि :—

राष्ट्रीय भाव का वेग जो आवे सही स्वरूप के लार, समता श्रेयकारी।

इस राजकन्या ने उनको यह भी परामर्श दिया कि आप अपने यहां नैतिक जीवन जीने वालों की एक सोसायटी बनायें। और समाज में ऐसा वायुमण्डल तैयार करें कि समाज में जो कुरीति—रिवाज हैं, वे भी दूर हो सकें। समाज के धरातल पर सामाजिक व्यक्ति ऊब नहीं पाएं। सामाजिक जीवन में जो कष्ट की स्थिति है, वह भी समाप्त हो। राष्ट्र में राष्ट्रीय भाव भी जागें। यह नहीं हो कि राष्ट्र में रहते हुए राष्ट्रीय चरित्र से भी गिरें। केवल व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तक ही सीमित नहीं रहें अपितु अपने सही स्वरूप को समझने वाले भी हों। आप ऐसा एक मंडल बनाइए ! यह आपका कार्य है। मैं अपना कर्तव्य कर रही हूँ। उसने सबको समाधान दिया। उसने आयंबिल तप करना प्रारंभ कर दिया। जिस स्थल पर कोई आपत्ति (संकट) आए, तो आयंबिल तप के द्वारा वह दूर हो जाती है। और

शांति के क्षण उपस्थित होते हैं। यह आयंबिल तप करने का विधान परंपरा से चला आ रहा है। कृष्ण ने भी आयंबिल तप करवाना चालू किया था। यह आयंबिल तप जहां आत्मशुद्धि का कारण है, वहां रामबाण दवाई है। तो कन्या ने सोचा कि, मेरे ऊपर बहुत बड़ी आपत्ति आई हुई है। मैं इन खूंखार राजा लोगों को जीत नहीं सकती हूँ। मैं कन्या हूँ, अतः मैं क्या कर सकती हूँ ? मेरे पास शस्त्रबल और सैन्यबल भी नहीं हैं। बस ! मेरे पास आत्मिक बल है। मैं उसको जगा लूंगी, तो बाहरी बल फीका पड़ जाएगा। और मेरा जीवन उन्नत बन जाएगा। उसने सादगी को अपनाया। सीधी—सादी वेशभूषा में सहने लगी। सादा जीवन व्यतीत करने वाले सीधी—सादी वेशभूषा में रहते हैं और चटकीले, अच्छे कपड़े पहिनने वालों का ध्यान सदा कपड़ों में रहता है। परन्तु आज की बहिनें तो धर्मसभा में भी कीमती साड़ियां पहन कर आई हैं। वे उन्हें निरखती रहती हैं। व्याख्यान में किसका ध्यान है ? क्या धरा है कपड़ों में ? जहां आध्यात्मिक साधना में पहुँचना है, तो सादी वेशभूषा धारण करनी चाहिये। परन्तु ये बहिनें रंग—बिरंगी वेशभूषा पहिनकर आती हैं। श्वेत वेश पहिन कर आना चाहिए। पुरुषों को धोती एक लांग की पहिनकर आना चाहिये। यहां आने का वेश अलग और बाजार में जाने का वेश अलग होना चाहिये। यदि धार्मिक वेग अलग होगा, तो सबको ज्ञात हो जाएगा कि ये आध्यात्मिक साधना के लिए जा रहे हैं। परन्तु जब बहिनें ऐसी सादी वेशभूषा नहीं रखती हैं और चटकीली—भड़कीली वेशभूषा शरीर पर सजाकर आती हैं, तो लोग सोचते हैं कि किसी उत्सव या शादी—विवाह में किसी के यहां जा रही हैं। जब सीधे—सादे तरीके से रहकर आध्यात्मिक साधना की जाती है तो बाहर से ध्यान हटता है और अन्दर की साधना होती है। भव्यशीला ने सोचा कि मुझे आध्यात्मिक साधना करनी है और आडंबर का विरोध करना है। राजा लोगों ने मनमानी कर रखी है। जनता का पैसा लेकर उपदेश दूंगी, तो नहीं लगेगा। कहा भी है

कि— “परोपदेशे पांडित्यम्” । और तुलसीदासजी ने भी कहा है कि— “पर उपदेश कुशल बहुतेरे” । यही कारण है कि सभा में कई लोग लच्छेदार भाषण कर लेते हैं परन्तु जीवन में शून्य रहते हैं। जो स्वयं समता नहीं रखते हैं, वे दूसरों को क्या समता दे सकते हैं ! भव्यशीला सोचती है कि मैं गहस्थी में लिप्त नहीं रहकर आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहती हूँ। उसने रंग—बिरंगी वेशभूषा हटाकर श्वेत वेश पहना और आयंबिल तप करने लगी। वह इष्टदेव को याद करने लगी, स्मरण करने लगी। बंधुओ ! आपका भी कोई इष्टदेव होगा ? भव्यशीला क्या स्मरण करती है ?

**पंच परमेष्ठि मंत्र को, हृदय बीच में रखती।
दा प्राण रूप में भाव शुद्धता धार।**

देखिए ! यह एक राजकन्या का जीवन है। वह राजकन्या श्वेत वस्त्र धारण कर आयंबिल तप करने लगी। उसके साथ पंच-परमेष्ठि का जाप करने लगी। देखिए ! पंच-परमेष्ठि में सारे इष्टदेवों का समावेश है। भूत, भविष्य और वर्तमान सब में इष्टदेवों का समावेश हो जाता है। वह भव्यशीला बड़ी चतुर थी। उसने सोचा — मेरा समय जब जाप में जा ही रहा है तो फिर मुझे ऐसा जाप जपना चाहिए जिसमें इष्टदेवों का समावेश हो। कहा भी है कि “एके साधे सब सधे, सब साधे सब जाए।” बुद्धिमान व्यक्ति, एक को साधने में, सब को साधने की कोशिश कता है। राजकन्या पंच-परमेष्ठि का ध्यान (जाप) कर रही है। प्राणों के साथ पंच-परमेष्ठि का जाप कर रही है।

जैसे मनुष्य प्राणों को नहीं भूलता है और चलते—फिरते प्राणों को याद रखता है, वैसे ही जाप में भी उनको याद करें, तो उसकी योग साधना सुन्दर बनती है। मानव जीवन में रहते हुए वह शक्तिशाली बनता है। प्रत्येक समय में पंच-परमेष्ठि को प्राणों की तरह याद करना चाहिए। वह बहिन वहां पंच-परमेष्ठि का स्मरण करती है। भाव सहित स्मरण करती है। आज क्या होता है ? आज

दो मिनट भी माला फेरते हैं, परन्तु फेरते—फेरते क्या याद आ जाता है ? बाजार। बाजार याद आ जाता है। ‘उसका कैसे बुरा हो’ यह याद आ जाएगा। उसके लिये तो साधना नहीं हो रही है ? सारी जिंदगी खपा देते हैं परन्तु क्या पाया ? कुछ नहीं। यदि यह पूछा जाए कि छः और पांच कितने, तो ग्यारह और पांच और पांच कितने, तो दस — यह तो याद है। परन्तु आपने जीवन की साधना कितनी की ? यह नहीं बता सकते हैं। मैं तो संकेत दे रहा हूँ। मैं यह कह रहा हूँ कि जो व्यक्ति साधना में तन्मय है, उसकी बात सोचिये ! वह

कन्या साधना में रत रहने लगी। पित पक्ष के लोग थे, वे कहने लगे कि तुम यह क्या कर रही है ? साधना करो, परन्तु आर्यंबिल मत करो। तो कन्या कहती है कि अंतर-साधना में जप के साथ तप भी आवश्यक है। इसके बिना साधना सफल नहीं होगी। तो वह ध्यान, जप, मौन और आर्यंबिल तप करती हुई, साधना कर रही है। अब आर्यंबिल तप करते हुए उसके शरीर में क्या परिवर्तन आता है, यह आगे की बात है।

इत्यलम् अन्दर के शत्रु को पहिचानें

प्रार्थना

**धार तरवारनी सोहेली, दोहेली, चौदमा जिण तणी
चरण सेवा धार पर नाचता देख बाजीगरा।**

बंधुओ ! तीर्थकर देव के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों के माध्यम से, जो आवेदन किया गया है — आवेदन क्या किया गया, साधक के जीवन की भावना को, अपने भीतर की कठिनाइयों को, अंदर की उलझनों को, व्यक्त करने का प्रयास किया गया है। साधक जब साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ता है। तब उस साधना के द्वारा जीवन में जो—कुछ घटित होता है, वह भी साधना में बाधक बनने के लिए, साधना पथ से विचलित करने का साधन हो जाता है। बाहर के साधन की क्या बात ? साधना के क्षेत्र में, बाहर की अपेक्षा, भीतर का महत्त्व अधिक है। अन्तःशुद्धि की साधना यदि भव्य तरीके

से की जाती है — अंतर्वक्तियों साधक को भटकाने वाली हैं, उन वक्तियों का यदि साधक परिमार्जन सही तरीके से कर ले, तब तो उसकी आंतरिक साधना इतनी दृढीभूत होती है कि वह बाहरी क्षेत्र में भी मुस्तैदी से चलता रहता है। कितनी भी विघ्न—बाधाएं, आंधी और तूफान क्यों नहीं आयें, उन सबके बीच में वह दृढ़तापूर्वक अपने गन्तव्य की ओर चलता ही रहता है, परन्तु भीतर की वक्तियों की यदि उपेक्षा की गई और बाहरी साधना का क्षेत्र प्रशस्त भी बनाया गया — निर्बाध गति से विचरण की सुविधा लें। जहां न आपत्ति और संकट हो, न आहार और पानी का परीषह हो, चारों ओर जय—जयकार हो, इतनी अनुकूलताओं के होने पर भी भीतर की वक्तियां यदि कमजोर रहें और अंदर ही अंदर साधना का विद्रोह होता रहा, आंतरिक चेतना यदि ठीक तरह से संभल नहीं पाई तो वे बाहरी सुख—सुविधाएं रहने पर भी, भीतर की उलझनें, हावी होने की चेष्टा करेंगी। इसी आंतरिक वक्ति का दर्शन प्रार्थना में हुआ है।

**धार तरवार नी सोहेली, दोहेली,
चौदमा जिणतणी चरण सेवा,
धार पर नाचता देख बाजीगरा,
सेवा ना धार पर रहे न देवा।।**

साधक की अंतर्वक्ति झं कृत हो उठी। वह कहने लगा, भगवन् ! आपकी सेवा करना सरल नहीं है। परमात्मा की साधना और आराधना सहज रूप से नहीं होती है। वह बाजार का लड्डू नहीं कि झट से खरीदा और मुंह में डाल दिया। यह साधना अति कठिन है। प्रार्थना की कड़ियों में संकेत दिया गया है कि 'धार तरवार नी सोहेली, दोहेली।' तलवार की धार पर साधारण व्यक्ति चल नहीं पाता है। वह तीक्ष्ण होती है। तीक्ष्ण तलवार पर बिना आवरण के खुले पैरों को रखने से रक्त की धारा बहने लगती है। पैर लहलुहान

हो जाते हैं। व्यक्ति इस तलवार पर पैर नहीं रख सकता है। कदाचित् देव योनि का देव अपनी वैक्रिय शक्ति के कारण, मनुष्य की आकृति का शरीर बना ले और दुनिया के सामने यह दशय उपस्थित कर दे कि देखो ! मैं तलवार की धार पर चल रहा हूँ। नहीं होने वाली बात सिद्ध हो जाए और असंभव भी संभव हो जाए ! परन्तु ज्ञानियों का कहना है कि भेद विज्ञान के बिना सेवा—मार्ग पर चलना तलवार की धार से भी मुश्किल है। वह देव भले ही दुनिया को आश्चर्यचकित कर दे। विभिन्न प्रदर्शन करने में पीछे नहीं रहे। परन्तु जहां तक वीतरागदेव के सिद्धान्त का प्रश्न है, उसको समझकर के सही मायने में जीवन्त वक्तियों को सुधारना अति दुष्कर है। उस मार्ग पर देव नहीं चल सकता। साधक ही उस पर चल सकता है। इसलिये स्पष्ट संकेत दे दिया कि—

**धार पर नाचता देख बाजीगरा,
सेव ना धार पर रहे न देवा।**

बाजीगर तो बाजीगर ही है। देव यदि मनुष्य का रूप वैक्रिय शक्ति से बनाता है, तो वह भी बाजीगर ही है। जो खुश करने के लिये विविध रूप धारण करके कला दिखाई जाती है, उससे वास्तविक आनन्द नहीं होता है। वह तो मस्तिष्क का मनोरंजन है।

मैं क्या कहूँ ! मैं साधक अवस्था में बैठा हुआ हूँ और कुछ कहने के लिये सोच रहा हूँ। मैं भी अनुभव करता हूँ कि प्रभु सेवा की साधना कितनी कठिन है ? हर साधक इसका अनुभव कर सकता है। वह चाहता है कि मुझे अपने जीवन में शांति मिले। मेरे अंदर की क्रोधवृत्ति नहीं भड़के और शांत रहूँ। परन्तु रह नहीं पाता है। थोड़ा—सा निमित्त मिला नहीं कि वह आगबबूला हो जाता है। मन चाहता है कि इस पर नियंत्रण करें। खूब नाचा—कूदी होती है। परन्तु फिर भी अपने-आप को संभाल नहीं पाता है। कभी व्यक्तियों से वार्तालाप करने का प्रसंग आता है तो प्रतीत होता है कि वे आंतरिक

वृत्ति पर नियंत्रण नहीं कर पाये हैं। उनकी साधना शून्य है। उन्होंने बाहरी साधना का अभ्यास किया है, भीतर प्रवेश करने की चेष्टा नहीं की है। भीतर प्रवेश करके अवलोकन करें कि ऐसा क्यों है ? गुस्से से भय खाते हैं, परन्तु उसके स्वरूप को समझने की कोशिश नहीं करते हैं। जब तक आप किसी वस्तु के स्वरूप को नहीं समझेंगे, तब तक आंतरिक वृत्ति को नहीं पकड़ पायेंगे। वह अंकुश में नहीं आएगी। इसलिए क्रोध नहीं करें। यह बात महाराज ने कही है इसलिये क्रोध नहीं करना है। मैं तो कहता हूँ कि महाराज ने कहा— इसको गौण कीजिए ! परन्तु भ. महावीर ने कहा कि— “कोहो य माणो यअणिग्गहिया, मायायलोहोयपवड्डमाणा। चत्तारिएएकासिणाकसाया, सिंचतिमूलाइंषुणभोवस्स”।

‘हे साधक ! यदि क्रोध और मान का निग्रह नहीं करोगे, माया और लोभ बढ़ते रहेंगे तो ये चारों कषाय जन्म—मरण के मूल को सींचते रहेंगे।’ संक्षेप में कहूँ तो राग और द्वेष दो ही संसार के मूल हैं। ये दोनों ही संसार रूपी वटवृक्ष के बीज हैं। यदि इन पर नियंत्रण नहीं किया, इनको वैसे ही छोड़ दिया, तो फिर चाहे कितनी ही साधना करते रहो, मास—मासखमण की तपस्या की, तीस दिन के बाद पारणा किया गया और पारणे में कुश के अग्रभाग पर जितना अन्न—पानी आवे, उतना लिया और फिर तपस्या कर ली। यह कितनी कठोर तपस्या है ? इतनी कठोर तपस्या करने पर भी यदि संसार के मूल को समझा नहीं है तो वह व्यर्थ है। दुनिया की दृष्टि में भले ही उसका महत्त्व हो। परन्तु वीतराग भगवान ने इस साधना को सही साधना नहीं माना है। अज्ञानतावश की जा रही वह मास—मासखमण की तपश्चर्या शून्यवत् है, जीरो पॉइन्ट के बराबर भी नहीं है। एक व्यक्ति बेले—बेले, तेले—तेले, चौले—चौले की तपस्या नहीं कर रहा है, परन्तु उसने वीतरागदेव के धर्म के मर्म को समझा है और उसके अनुसार चलने को कटिबद्ध है। अंदर—बाहर में

एकरूप होकर चलता है, तो वह भले ही मासखमण की तपस्या नहीं कर रहा है, परन्तु भगवान महावीर कहते हैं कि वह सोलह कलापूर्ण तपस्या है। परन्तु जो अज्ञानतावश तप कर रहा है वह श्रेष्ठ धर्म की सोलहवीं कला को भी नहीं छू सकता है। मैं वीतरागदेव की वाणी को रख रहा हूँ – आप सुन रहे हैं। मैं और भी संकेत दे रहा हूँ ! वीतरागदेव ने कहा है इसलिए क्रोध भयंकर है और ज्ञानीजन कहते हैं इसलिए क्रोध नहीं करना चाहिये। परन्तु थोड़ी देर के लिये मैं इसे भी विराम देदूँ और ज्ञानीजन की बात को एक तरफ रख दूँ। परन्तु मैं पूछूँ कि आप संसार में सुखपूर्वक जीना चाहते हैं या दुखपूर्वक ? आप जिन्दा रहना चाहते हैं, शांतिपूर्वक या अशान्तिपूर्वक ? वर्तमान जीवन को यदि सुखमय और शांत बनाना चाहते हैं, तो इस विषय में भी सोचना चाहिये कि हमारी अशांति का मूल कारण क्या है ? दुख देने वाला हमारा शत्रु कौन है ? आप यदि तटस्थ भाव से, युक्तिपूर्वक चिन्तन करेंगे तो ज्ञात होगा कि मनुष्य शत्रु से ज्यादा डरता है। वह कहता है – क्या करूँ ! यह भयंकर शत्रु है। मेरे पास-पड़ोस में दुश्मन रहता है। मैं शांति से नींद नहीं ले सकता, तो यह सोचना भूलभरा है। शत्रु बाहर नहीं है, भीतर है। आप बाहर के शत्रु को पकड़ते हैं। और यह सोच रहे हैं कि यह शत्रु हमारे जीवन में बाधक बन रहा है। जीवन को डावांडोल बना रहा है। शांति से जीना चाहते हैं, परन्तु यह बाधक बन रहा है। तो यह सोचना भी ठीक नहीं है।

गीता में एक जगह वर्णन आया है। अर्जुन, जिसके हाथ में गांडीव धनुष था, जिस वीर अर्जुन का युद्ध में कोई मुकाबला नहीं कर सकता था और जिसके गांडीव धनुष की भी कोई निंदा नहीं कर सकता था। बाहरी शत्रु जिसके सामने टिक नहीं पाता था ऐसा धनुर्धर वीर अर्जुन, एक दिन हतोत्साहित हो गया और श्रीकृष्ण के सामने जाकर निवेदन करने लगा कि “अथ केन प्रयुक्तोयं पापं चरति मानवः। अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बध्नादि नियोजितः।।” भगवन् !

मैं नहीं चाहता हूँ कि मैं किसी बुरे काम में लगूँ। मेरी भावना नहीं रहती है कि, मैं अकरणीय कार्य करूँ परन्तु मुझे कोई जबरदस्ती घसीट कर ले जा रहा है। भीतर कौनसा शत्रु है, जो बुरे काम में लगा देता है। तब श्रीकृष्ण ने कहा कि— “काम एष क्रोध एष समुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।” हे अर्जुन ! ये काम और क्रोध तुम्हारे शत्रु हैं। यही बैरी हैं। इन्हीं विषयों को तू समझ कर, इन पर काबू पा। बाहरी शत्रुओं पर काबू पाना कठिन नहीं है। परन्तु अंदर के शत्रुओं पर काबू पाना अति कठिन है।

गीता में भी कृष्ण ने अंदर के क्रोध और काम को शत्रु कहा है। तो गीता ने कहा, वीर ने कहा और अन्य धर्मों ने भी कहा। परन्तु आप स्वयं सोचिए ! वर्तमान में आप शत्रु से डरते हैं, उससे दूर रहना चाहते हैं। एक व्यक्ति आए और कहे कि, मैं एक हजार रुपये देता हूँ, तुम एक पॉयजन (जहर) का इन्जेक्शन ले लो। तो क्या आप लेंगे ? वह दो हजार क्या, दस हजार भी देगा, तब भी नहीं लेंगे। आप कितने चतुर हैं कि हजार-दस हजार देने पर भी नहीं लेना चाहते। आप उसको शत्रु समझेंगे कि रुपया देकर यह मुझको खत्म करना चाहता है। आप अपनी अंतर्-अनुभूति से सोचिये कि बाहरी जहर इतना असर करे या नहीं भी करे, परन्तु भीतर का जहर आपके अंतर को जर्जरित करने वाला है। यह जहर जब अंदर जाता है, तो यह शरीर विषैला बन जाता है। मैं अपनी बात समझा रहा हूँ, परन्तु यह मेरी ही नहीं है, आपकी भी है।

वैज्ञानिक अन्वेषण से पता चलता है कि तीव्र क्रोध करने से शरीर में बड़ी मात्रा में जहर फैल जाता है। खून विषाक्त हो जाता है। यह भी पता चला है कि एक बार तीव्र क्रोध करने से एक पाउण्ड (३६ तोला) खून जल जाता है। एक ओर तो आप निरर्थक ही तीव्र क्रोध कर इतना अधिक खून जला देते हैं, दूसरी ओर जहां खून का सदुपयोग करना चाहिए वहां टालमटूल और बहानाबाजी

कर लेते हैं।

एक व्यक्ति आपके पास आया। वह गरीब है, अनाथ है, असहाय है। उसके कोई भयंकर व्याधि हो गई है। वह गिड़गिड़ाता है कि आप दयालु पुरुष हैं ! आप मुझे खून दे दीजिए। आप कहते हैं कि मैं तो पहिले ही कमजोर हूँ। खून बढ़ाओ, ऐसा डॉक्टरों ने कहा है। अतः मैं तो नहीं दे सकता हूँ। चाहे पैसा देने को तैयार हो जाएं। परन्तु बिरले ही पुरुष खून देंगे। जरा—सा निमित्त मिला और गुस्सा किया, कितना खून व्यर्थ में जला दिया ! अरे ! आप गुस्सा करके किसका क्या कर लेंगे ? वैज्ञानिकों की दृष्टि से एक पाउण्ड तो खून जला दिया, जिसके लिये आप डॉक्टरों के पास जा रहे हैं, दवाइयां खा रहे हैं खून बढ़ाने के लिये। डॉक्टरों ने निष्कर्ष निकाला है कि एक बार तीव्र क्रोध करने से शरीर में इतना जहर पैदा हो जाता है कि यदि उसे अलग किया जाय तो वह अस्सी आदमियों को मारने वाला बन सकता है। आप बाहरी शत्रु से डर रहे हैं। परन्तु यह अंदर का शत्रु खून चूस रहा है, इसकी चिंता ही नहीं कर रहे हैं। भाई सोचते हैं कि, हम गुस्सा नहीं करेंगे तो हमारा काम नहीं चलेगा। बच्चे, स्त्री कहना नहीं मानते। परन्तु यह सोचना भी गलत है। अरे ! आप गुस्सा करते हों, तो अपने—आप का तो नुकसान करते ही हो, अपने शरीर को तो जहरीला बना ही लेते हैं। साथ ही आपके बच्चे भी क्रोध करना सीख जाते हैं। आपके बच्चे सीख जायेंगे कि गुस्सा करना ठीक है ! गुस्से से वे बच्चे नहीं समझेंगे आप की बात। परन्तु शांति के साथ कहेंगे तो समझ जायेंगे। पिताजी ने मुझे शांति से समझाया तो पिता की बात माननी चाहिये। और यदि डांट—फटकार करदी और आवेश में आकर पिटाई करदी, तो वह उस वक्त तो सहन कर लेगा पर मन में विद्रोह खड़ा कर लेगा। जब गुस्से में आकर डंडे से मारा, तो बच्चा देखेगा कि पिता ने गुस्से में आकर डंडे से मारा, तो मेरे अंदर भी गुस्सा आ जाए, शक्ति आ जाए तो मैं भी पिता को डंडा मारूँ। जैसे माता—पिता, परिवार वाले

गुस्सा करते हैं, वैसा ही गुस्सा वह करने लग जाता है। वह डंडा उन पर बरसाने लग जाता है। तो उनको गुस्सा करना आपने सिखाया। कितनी बुरी बात हुई !

आपका पड़ौसी, शत्रु बन गया। भाई, रिश्तेदार भी दुश्मन बन गए। आप दुकान पर गए और ग्राहक पर गुस्सा किया, तो वह दुबारा नहीं आएगा। तो गुस्सा करने वाला कुशल व्यापारी नहीं रह सकेगा। चतुर व्यापारी किसी भी स्थान पर गुस्सा नहीं करेगा। वह सब के साथ बड़ी सरलता से पेश आएगा। कोई दुकान पर ग्राहक आया, तो दूकानदार कितनी ही बार उठता है और माल बताता है। ग्राहक नहीं लेता है तो भी गुस्सा नहीं करता है। वह ग्राहक उसके प्रति मन में अच्छी छाप लेकर जाता है और पुनः आकर उसे कमाई देकर जाता है। पिता ने पुत्र से दुकान पर कहा कि अमुक चीज लाओ, तो लोक—लाज से उठा और लाया भी। परन्तु दुबारा कहा तो कहने लगा कि आप लाते रहो। वह घरेलू जीवन को व्यावहारिक जीवन में उतारने की कोशिश करने वाला नहीं है। डॉक्टर के पास मरीज पहुँचा और वह मिठास से पेश नहीं आता है, तो वह अपने व्यवसाय में असफल हो जाता है। वकील के पास कोई मुक्किल आया और उस पर बरसने लगा तो उसकी भी वकालत नहीं चलती है। इस तरह यह गुस्सा शांति को तो नष्ट करता ही है, बाहर भी शत्रुता पैदा करता है। यह आपकी भ्रांति है कि गुस्सा करने से काम सुधर सकता है। इसके विपरीत यदि आप क्षमा भाव से शांतिपूर्ण व्यवहार करें तो सामने वाला स्वयं शान्त हो जाएगा। शान्त होने की दृष्टि से आप भारतीय कितना उपदेश सुनते हैं। परन्तु उसको सुनते हैं शून्य चित्त से। आधे ध्यान से। आप सोचते हैं कि हमारा सुनने का और महाराज का सुनाने का ठेका है। जीवन के लिये जैसे अन्न और जल आवश्यक हैं, वैसे ही धार्मिक बातें सुनना भी आवश्यक है। आप राजनीतिक भाषण सुनने को जाते हैं, तो उसमें से मुद्दे की बातें, रोटी—रोजी की बातें पकड़ते हैं। जब तक अंतर की बात समझ में

नहीं आवेगी तो वह रोटी—रोजी काम नहीं आएगी। भगवान महावीर ने चंड कौशिक के बिल के पास जाकर ध्यान लगाया। चंड कौशिक ने गुस्से में आकर, उनके अंगूठे पर डंक लगाया। परन्तु क्षमासागर ने उस पर क्रोध नहीं किया और क्षमा धारण की। तो उससे उस विषैले विषधर का जीवन भी शान्त बन गया। भारत में ऐसे कई उदाहरण आपको श्रवण करने को मिलेंगे।

आचार्यश्री उदयसागरजी महाराज के एक शिष्य के हाथ से पात्र फूट गया। वे बाहर गए हुए थे। वापिस आने पर दूसरे साथी संत को उपालंभ देने लगे कि विवेक रखना चाहिए। परन्तु उस संत ने यह नहीं कहा कि गुस्से में आकर मैंने यह पात्र नहीं फोड़ा है। मुझ पर आप क्यों गुस्सा कर रहे हैं ? इतने में चौथमलजी महाराज पधार गए। इनके हाथ से वह फूट गया था। तो उन्होंने कहा — गुरु महाराज, मेरे हाथ से पात्र फूट गया था। आचार्यश्री को आश्चर्य हुआ कि इतना उपालंभ देने पर भी यह कुछ नहीं बोला ! तभी से उस सन्त का नाम क्षमासागर पड़ गया। तो उन्होंने गुस्सा नहीं किया। इससे कर्मबंध भी नहीं हुआ। और वस्तुस्थिति ठिकाने आ गई। ऐसे अनेक प्रसंग भारतीयों को तो बहुत सुनने को मिलते हैं, परन्तु विदेशियों में भी ऐसे व्यक्ति हो गए हैं कि जिन्होंने दुर्दम्य व्यक्ति को भी अपने इसी क्षमाशीलता के गुण के कारण शान्त बना दिया।

इंग्लैण्ड के होमरलैंड ने बहुत संपत्ति कमाई। वह बड़ा माना हुआ धनाढ्य व्यक्ति था। एक समय उसने सोचा कि मेरे पास बहुत संपत्ति है, परन्तु इसका सही रूप में सदुपयोग कहाँ हो ? तो उसने सोचा कि महाविद्यालय, विश्वविद्यालय खोल दूँ। बहुत सोचा तो चिन्तन में आया कि यह कार्य तो सरकार करती है फिर मैं इसमें संपत्ति क्यों लगाऊँ। मुझे ऐसी विशेष बात करनी चाहिये, जिससे कि जनता को शांति मिले। इस प्रकार सोचते हुए मस्तिष्क में एक बात आई कि जो क्रोध को नहीं जीतने के कारण घर से विद्रोह करके आवारा, चोर, डाकू बन गए हों, उनको पुनः सभ्य नागरिक बनाने के

लिये और उनको मानसिक कलुषित वक्तियों से छुटकारा दिलाने के लिए एक संस्था का निर्माण किया जाय। उसने एक रिपब्लिकेशन आश्रम की स्थापना की। उसमें ऐसे अध्यापकों को रखा गया, जो शांत हो, गंभीर हो, अपराधी कितना ही अपराध करे, परन्तु वे गुस्से में नहीं आयें, डंडा नहीं मारें, अपने स्नेह और प्रेम से उन विद्यार्थियों की मानसिक वक्तियों को सुधारने की चेष्टा करें। तो वह आश्रम चलने लगा। उस आश्रम में तरुण और वृद्ध व्यक्ति भर्ती होने लगे।

एक दिन, होमरलैंड ने सरकारी गजट में पढ़ा कि एक सोलह वर्ष का तरुण है, वह मां—बाप के लाड़—प्यार के कारण और खराब सोसायटी में फंस जाने के कारण आवारा बन गया। माता—पिता ने जन्म दिया परन्तु संस्कार नहीं दिये। उसे आजाद छोड़ दिया तो लाड़—प्यार से वह आवारा बन गया। कुसंगति के कारण छोटी उम्र में ही भयंकर अपराध करने लगा। एक बार एक भयंकर अपराध में वह पकड़ा गया। सजा का पात्र हो गया। मुकदमा सुप्रीम कोर्ट में पहुंच गया। जज ने निर्णय दिया कि इसको फांसी के तख्ते पर लटका दिया जाए। यह खबर, जब गजट में होमरलैंड ने पढ़ी तो उसके रोम—रोम खड़े हो गए। उसने सोचा कि सरकार की नीति तो अपराध का परिमार्जन करने की है। परन्तु इसके विपरीत, इस तरुण को खत्म किया जा रहा है। तो होमरलैंड ने सरकार में एक अर्जी लगाई और सरकार से निवेदन किया कि आप अपराध को खत्म नहीं करके, अपराधी को खत्म करना चाहते हैं। इससे अपराध कम नहीं होंगे। इसलिये इस व्यक्ति को मुझे सौंप दिया जाए। मैं इसके हृदय की कलुषित वक्ति को हटाकर एक सभ्य नागरिक बनाना चाहता हूँ। जजों ने उसकी अर्जी पर गौर किया और उसको सौंप दिया।

होमरलैंड उसे अपने आश्रम में ले गए। वहाँ भर्ती कर दिया। अध्यापकों से कहा कि देखो यह अधिक रोगी है। अतः इसका अधिक खयाल करें। इस प्रकार हिदायत देकर वे अपने बंगले पर चले गए।

इधर एक अध्यापक ने कहा, इधर आओ जॉन ! यह शब्द सुनते ही जॉन की अहंकार वृत्ति जाग उठी। वह सोचने लगा कि मेरे माता—पिता तो कहें कि पधारो कँवर सा. ! मैं भी एक करोड़पति का लड़का हूँ। और यह दो कौड़ी का अध्यापक मुझसे कह रहा है कि आओ जॉन ! उसके अंतर का सोया हुआ क्रोध जाग्रत हो गया। लाल—लाल नेत्र हो गए और खून खौलने लगा। 'आव देखा न ताव', एक डंडा उठाया और अध्यापक को पीटने लगा। दूसरों के भी हाथ—पैर तोड़े। वे सब अध्यापक जान बचाकर आश्रम से भाग गए। अब तो आजादी के साथ वह सारे फर्नीचर को तोड़ने लगा। यह खबर अध्यापकों ने होमरलैंड के पास आकर दी और निवेदन किया कि आपने कैसे क्रूर व्यक्ति को भर्ती कर लिया कि उसने आते ही उत्पात मचाना शुरू कर दिया। अब आपकी कामना कैसे पूरी होगी ! उसने तो हम सभी लोगों के हाथ—पैर तोड़ दिए। आश्रम की सब चीजें तोड़ दी। कहिए ! क्या इतना सब—कुछ सुनने पर भी मनुष्य की वृत्ति शान्त रह सकती है ? यदि कोई दो पैसे का भी नुकसान कर दे, तो गुस्सा आए बिना नहीं रहता, जबकि इतना नुकसान हो जाने के बावजूद होमरलैंड को गुस्सा नहीं आया। उसने उनसे गंभीरता से कहा कि आप घबराओ मत। फर्नीचर नष्ट हुआ है तो दूसरा आ जायेगा। हाथ—पैर तोड़े तो आपका इलाज करा दूंगा। परन्तु देखो ! मैंने ऐसे व्यक्तियों को सुधारने के लिये ही तो आश्रम खोला है। परन्तु अध्यापकों ने कहा कि उस व्यक्ति को हम नहीं संभाल सकते हैं। होमरलैंड ने कहा— अच्छा ! आप जाओ और आश्रम चलाओ। होमरलैंड उस बच्चे के पास गया और कहने लगा — जॉन सा. ! इधर पधारिये ! ये शब्द सुनते ही जॉन फूला नहीं समाया। फिर होमरलैंड उसको कार में बैठाकर अपने बंगले पर लाया। अब सब—कुछ ठीक था। उसने जॉन से कहा — जॉन साहब ! यहां बिराजो। आपको भोजन करना है ? तो जॉन ने कहा — हाँ ! करना है। तो होमरलैंड ने उसे जमाई की तरह जिमाया।

होमरलैंड सोचता है कि यदि मेरी सारी संपत्ति भी इसको सुधारने में लग जाती है तो मेरा मकसद सफल है। तो कहा— जॉन सा. ! यह बंगला आपका है, संपत्ति भी आपकी है। मैं तो अपने ढंग से चल रहा हूँ। इससे आपको ही संभालना है। आप अब खाना जीमलो। प्लेटें जमाकर जीम लोगे ? यह शब्द सुनते ही, फिर अहं जाग उठा और सोचा कि क्या मैं रसोईघर से भोजन लेकर खाऊँगा ? क्या मुझे नौकर समझर खा है ? क्रोधावेश में आकर प्लेटें तोड़नी शुरू कर दी। होमरलैंड फिर आया और कहने लगा— "जॉन जी, तुम तो बहुत फुर्तीले हो। तुमने इतने थोड़े समय में, कितना भारी काम कर दिया। ये शब्द सुनते ही, वह सोचने लगा कि मैं आश्रम में उत्तेजित हो गया और यहां आकर इतना नुकसान कर दिया फिर भी ये मेरी तारीफ कर रहे हैं कि तुमने इतनी फुर्ती से काम कर दिया ! इतने में ही होमरलैंड ने उसके हाथ पर एक बहुमूल्य घड़ी रखी और कहा— अरे ! इसको भी पत्थर से फोड़ दीजिये। इतना कहते ही जॉन की क्रूर प्रवृत्ति पानी—पानी हो गई। वह सोचने लगा — ओहो ! मैं कितना क्रूर व्यक्ति हूँ ! और यह व्यक्ति कितना दयालु है। मेरे माता—पिता तो जन्म देकर शत्रु बने। उन्होंने जीवन निर्माण की कला नहीं सिखाई। मैं फांसी के तख्ते पर जाने वाला था और ये जीवनदान देने वाले, बचाने वाले हैं। वह एकदम भावावेश में आकर होमरलैंड के चरणों में गिर गया। गिड़गिड़ाकर रुदन करता हुआ कहने लगा, मेरे जैसा पापी नहीं, आपके जैसा धर्मात्मा नहीं।

बंधुओ ! आप अपनी कमजोरी को महसूस नहीं कर पाते। आप वीरता धारण कीजिये और भगवान महावीर के सिद्धान्त को याद कीजिये। उस पर जरा चिन्तन—मनन कीजिये। और अपने वर्तमान जीवन को देखिए ! यह क्रोध, गुस्सा आपके वर्तमान जीवन और भावी जीवन को बिगाड़ने वाला है। एक विद्यार्थी गुस्सा करता है तो परीक्षा में पूरे नम्बर नहीं ले पाता। शांत मन से काम करता रहता है तो एक दिन अच्छे नंबरों से उत्तीर्ण हो जाता है। यदि

आपको वीतरागदेव का सच्चा भक्त बनना है, तो इस गुस्से को सर्वथा हृदय से निकाल दें। तभी आप सच्चे मायने में वीतरागदेव के भक्त बन सकते हैं और अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो सकते हैं। एक कवि भगवान की प्रार्थना करते हुए याचना कर रहा है कि :-

**सच्चा भगत बन जाऊँ, भगवान तुम्हारा अब मैं।
क्रोध निकट नहीं आने देऊँ, शस्त्र अचूक क्षमा का लेऊँ।
दूर ही मार भगाऊँ। भगवान तुम्हारा अब मैं।।**

बंधुओ ! यदि भगवान के सच्चे भक्त बनना है, तो इस क्रोध को पास में मत आने दो। यह क्रोध, आत्मा का सबसे बड़ा शत्रु है। इस पर विजय प्राप्त करने के लिये तो अंदर के अचूक शस्त्र क्षमा को धारण करना पड़ेगा। आज की दुनिया में आन्तरिक शस्त्रीकरण तेज होता जा रहा है। जबकि ऊपर से राष्ट्र कहते हैं कि निःशस्त्रीकरण होना चाहिये। आज बाह्य शस्त्र तैयार किये जाते हैं। इससे भीतर के शत्रु पराजित नहीं होंगे। जब तक भीतर के शत्रु को पराजित नहीं किया जायेगा, तब तक विश्व में शांति का साम्राज्य स्थापित नहीं हो सकेगा। इस क्रोध रूपी अंतरंग शत्रु को क्षमा के द्वारा ही पराजित किया जा सकता है और जीवन में शांति का अनुभव किया जा सकता है। यह मानव के सोचने का विषय है। मानव यदि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में शान्ति से जीना चाहता है तो इस आंतरिक शत्रु को दूर से ही मारकर भगा दो। इसे निकट आने ही मत दो। आप सोचिए ! अनुभव कीजिये ! यदि आप चाहते हैं कि मेरा खून बढ़े, मेरा शरीर स्वस्थ रहे, ठीक रहे, तो गुस्से का प्रतिकार कीजिये। गुस्से का प्रतिकार गुस्से से कदापि नहीं होगा। यदि भट्टी से निकाले हुए गरम लोहे को काटना है तो वह गरम छैनी से नहीं कटेगा। उसको काटने के लिये तो ठंडी छैनी ही चाहिये। आप अग्नि को शान्त करना चाहते हैं तो उसको शान्त करने के लिये घी या

घासलेट काम नहीं आयेगा। अपितु उस पर शीतल पानी डालेंगे तभी वह भभकती हुई आग शांत होगी। ऐसे ही, भीतर साधना के पथ में आड़े आने वाले, रुकावट डालने वाले, कितने ही शत्रु बैठे हुए हैं। उनके विषय में हम कितने जाग्रत हैं ? क्या-कुछ कर रहे हैं ? इस विषय में सोचना अत्यावश्यक है। अन्य संत और सती वर्ग और भाई लोग कभी-कभी तारीफ के पुल बांध देते हैं। मैं कभी ऐसा नहीं कहता हूँ कि तुम मेरे लिये ऐसा कहो। मैं तो निषेध करता रहता हूँ। मैं देखता हूँ कि ये मेरे अंतर् के शत्रु अहंकार को जगा रहे हैं। ये तो आत्मशुद्धि कर जायेंगे, परन्तु जिसकी तारीफ कर रहे हैं, वह यदि ठीक तरह से नियंत्रण नहीं कर पाया और सोच ले कि मैं भी कुछ हो गया तभी ये सब मेरी तारीफ कर रहे हैं, तो यह अहंकार वृत्ति घातक बन जाएगी। इसीलिए मैं यदा-कदा कहता रहता हूँ कि आप भगवान के गुणगान कीजिये। मैं चेतावनी भी देता हूँ, परन्तु ये कहते हैं कि आप शांत रहिए। मैंने सोच लिया कि यह सब परमात्मा के चरणों में समर्पित ही कर दूँ। मुझे तो अपने अंदर में देखना है कि कहीं यह अहंकार जाग्रत नहीं हो जाए। कहीं राग नहीं जाग जाए। अभी मुनिजी ने कहा कि भाई कहते हैं कि ऊपर के पाट पर बैठते हैं, तो इस पर नाराज नहीं होना चाहिए बल्कि उनको हितैषी मानना चाहिये। जैसे कोई व्यक्ति किसी के पैर का कांटा निकालता है तो कांटा निकालने के लिये सूई चुभोता है तो वह सूई चुभो कर कांटा निकालने वाला हितैषी है। वैसे ही कोई भाई कुछ भी कहे, उसके लिये यही सोचना चाहिए कि मेरे मन का कांटा निकाल रहा है। भाई ! कांटा तो दयालु ही निकालते हैं। मैं मर्यादा को सुरक्षित रखना चाहता हूँ। मैं अहंकार के वशीभूत होकर ऊपर बैठूँ, यह भावना नहीं रहती है। मैं नीचे बैठ गया जब श्री प्रतापमलजी महाराज आए।

मैं अभी बीकानेर में था, तो मूर्तिपूजक समाज के आचार्य आए, मैं पाट से नीचे उतर गया और चलने लगा तथा उनसे बात करने लगा। मुझे पाट का शौक नहीं। ऊँचा बैठना तो इसलिये है कि

आप सबके मुँह दिख जायें और अगर आपको नींद आवे तो उन्हें मैं चेता देता हूँ। मैं तो कभी—कभी नीचे भी बैठ जाता हूँ। कभी—कभी ऐसा होता है कि बाजारू बातें बहुत आ जाती हैं। मैं तो इसमें खुशी मानता हूँ। अगर कोई अफवाहें फैलाने में खुशी माने तो उनकी इच्छा। मैं तो छूट देता हूँ कि मेरे विषय में कोई गलत बात कहे, तो आप कुछ नहीं कहें। मैं दिल खोलकर बात बताने की चेष्टा करूँगा। मैं अपने रास्ते जाता हूँ और आता हूँ। मैं किसी का तिरस्कार नहीं करूँगा। कभी—कभी लोग शंका कर लेते हैं कि महाराज गादी पर विराजते हैं।

जब मैं छत्तीसगढ़ की तरफ विचरता था, तो उस समय मेरी रीढ़ की हड्डी बढ़ गई। डॉक्टरों से सलाह ली कि यह कैसे ठीक हो सकती है ? तो कहा कि ऑपरेशन होगा। मैंने सोचा कि इस ऑपरेशन के प्रायश्चित्त में तो चार महीने का दीक्षा का छेद होगा तो मैं दीक्षा में चार माह छोटा हो जाऊँगा। और मुझे अन्य ज्येष्ठ मुनियों को वंदन करना पड़ेगा। शास्त्र में औषध—भेषज का भी वर्णन आया है, श्रावकों को भी इस विषय में स्पष्ट वक्ता होना चाहिये कि यह आपके लिए औषधि आई है। परन्तु महाराज के सामने कहे कि मेरे घर के लिए आई है औषधि। बंधुओ ! मैं मेरी बात ज्यादा देर तक नहीं कहना चाह रहा हूँ। इस तरह से डॉक्टरों से परामर्श मांगा और शास्त्रीय दृष्टि से चिन्तन किया। डॉक्टरों ने कहा कि उनलप की गादी लगाये रहें, तो आपको बैठने में दर्द महसूस नहीं होगा। उपचार किया जाए तो ऑपरेशन से ठीक हो जाएगा परन्तु थोड़े दिन ठीक रहने के बाद फिर बढ़ जाएगा। मैं बैठूँ कैसे ? सलाह दी कि यह निर्जीव है, जीव नहीं है। क्योंकि साधु जीवयुक्त पदार्थ काम में नहीं लेता है। इसी कारण से बड़े ऑपरेशन से बचने के लिए यह गादी रखी है। यह बात यदि मेरे भाइयों को ज्ञात हो जाए तो उनकी आंतरिक वक्तियों में क्लेश और द्वन्द्व खड़ा नहीं होगा। तो मैं इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर कह रहा हूँ कि यह गुस्से और अहंकार

की वक्ति, कैसी शत्रुता का कार्य करती है ? इसका शमन करने के लिये कह रहा हूँ। आप धार्मिक जीवन में आगे बढ़ें। अमत्त का जहर कैसे हो जाता है ? यह बहुत बारीक बात है। सुझ जन तो समझते हैं, परन्तु सबके अभी समझ में नहीं आयेगी। मैं श्रावक, श्राविकाओं और संत एवं सतियों को ध्यान दिलाना और कहना चाहता हूँ कि सावधान रहें। आप मेरे लिये मित्रता का कार्य करें। आप मेरी तारीफ करते रहते हैं तो मैं आपको रोकता नहीं हूँ। परन्तु भगवान की तारीफ कीजिये ! मुझे लपेटे में मत लीजिए ! भगवान का मार्ग कितना वैज्ञानिक है ? आनन्दघनजी कह रहे हैं कि :—

**धार तरवार नी सोहेली, दोहेली
चौदमा जिनताणी चरण सेवा।
धार पर नाचता देख बाजीगरा,
सेवना धार पर रहे न देवा।।**

वह तलवार की धार से भी कठिन है क्योंकि हम आंतरिक वक्तियों को पकड़ नहीं पाते हैं। क्रोध को देखो। आचारांग सूत्र में स्पष्ट रूप में बतलाया है कि “कोहं पासह माणं पासहं।” क्रोध को और मान को देखो, परन्तु क्रोध, मान को कैसे देख सकते हैं ? आज आचारांग सूत्र हमारे लिए महत्त्वपूर्ण नहीं रहा। उसमें से सूक्ति वाक्य निकाल कर प्रातःकाल आपको बुलाए जाते हैं लेकिन आप डरते हुए बोलते हैं। यदि आप धीरे-धीरे एक-एक शब्द भी याद करेंगे, तो कण-कण कर मण होता है, और बूंद-बूंद कर घड़ा भरता है। आप जीवन का निर्माण करेंगे और संतों से प्रेरणा लेंगे और सत्य भगवान को प्रकट करेंगे तो आपका यह जीवन सार्थक होगा।

इत्यलम्

भगवान की सेवा हम किस रूप में करें?

प्रार्थना

**धार तरवार नी सोहेली, दोहेली, चवदहमा जिण तणी
चरण सेवा, धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवना धार पर रहे
न देवा।**

बंधुओ ! सेवा के महत्त्व को मानव अपने जीवन में उतारता

है, तो उसकी अंतरात्मा सेवा के लिये आतुर हो उठती है। उसकी अंतर्-चेतना यही चाहती है कि मैं भी इस महत्त्वपूर्ण सेवा को अपने जीवन में स्थान दूं। जन-साधारण द्वारा की गई सेवा का बहुत बड़ा महत्त्व है। भगवान महावीर की सेवा का अथवा यों कहिए कि तीर्थंकर देवों की सेवा का तो कहना ही क्या है ? कभी-कभी बहुत ही जटिल प्रश्न सामने आ जाते हैं कि तीर्थंकर देव की सेवा कैसे की जाए ? तीर्थंकर तो मोक्ष में पधार चुके और अभी इस भारतभूमि पर नहीं रहे। लोकाकाश के अंतिम छोर पर पहुँच गये। जिनके दर्शन चर्मचक्षुओं से संभव नहीं हैं। उनके अब शरीर नहीं रहा। न सूक्ष्म, न स्थूल और न कर्मण शरीर ही है। जब वे शरीर रहित, अरूपी स्वरूप में विराजमान हो चुके, तो उन परमात्मा की सेवा हाथ-पैर वाला मनुष्य कैसे कर सकता है ? यह प्रश्न सेवा के अभिलाषी व्यक्ति के लिये बड़ा ही जटिल है। उसके मन में सेवा की तरंगें तो उठती हैं कि मैं अनन्तनाथ भगवान की सेवा करूँ। परन्तु वह कर नहीं पाता। जिस वक्त अनन्तनाथ भगवान इस मानव शरीर में विराजमान थे, उस वक्त उनका शरीर विद्यमान था। उनका शरीर भव्याकृति वाला, विभिन्न अतिशयों से युक्त और सभी जनमानस के समक्ष था। उस वक्त भक्तगण उनकी सेवा करने की सोचते थे। उनकी सेवा तभी फलदायी हो सकती है जब उनके तीर्थ में साधु रूप में दीक्षित होकर रहे। बिना परिपूर्ण साधु के अनन्तनाथ भगवान की सेवा, तीर्थंकर शरीर में रहते हुए भी कोई नहीं कर पाता। यह स्वाभाविक है कि जिन पुरुषों का आध्यात्मिक जीवन उन्नत बन जाए, जो अपने सांसारिक जीवन को विषय-वासनाओं से ऊपर उठा लें, वही तीर्थंकर की सेवा कर पाते हैं। विषय-वासना वाला जीवन तुच्छ जीवन है, एक घेर का जीवन है, पांच इंद्रियों की परिधि का जीवन है। इन पांच इंद्रियों के माध्यम से वह अपनी शरीर संबंधी क्रियाओं को करता है और थोड़े-से समय में वह इस महत्त्वपूर्ण जीवन को गंवा देता है। परन्तु जिस पुरुष को यह विज्ञान मालूम हो जाए कि इस मनुष्य तन से ही सभी तरह की सेवा का कार्य बन

सकता है, वह सेवा का लाभ उठा लेता है। परिवार की सेवा भी एक सेवा है, माता-पिता की सेवा भी एक सेवा है। इस सेवा को करने से भी पुण्यलाभ होता है। जो यह सोचे कि शरीर आज नहीं तो कल जीर्ण-शीर्ण होगा ही, अतः इस शरीर से मैं अधिक सेवा का कार्य संपादित करने के लिये अधिक से अधिक कार्य साधूं। परिवार के सदस्यों या माता-पिता की सेवा मैं गहस्थ अवस्था में रहकर ही कर सकता हूँ। उसका यह कर्तव्य भी बन जाता है। परन्तु इस गहस्थ अवस्था से संबंधित सामाजिक परिवेश में रहता हुआ, परिवार की सेवा करता हुआ समाज की सेवा भी साधता है। जो समाज की सेवा को परिजन-परिवार की सेवा की तरह कर्तव्य समझकर करता है, उस व्यक्ति की सेवा का दायरा बढ़ जाता है। वह व्यक्ति दुनिया की आंखों में चमकने लगता है। वह जिस प्रकार अपने परिवार की, परिजनों की सेवा कर रहा है, उसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में समाज का हित-संपादन करने की दृष्टि से, सामाजिक जीवन को उन्नत बनाने के लिये, समाज में व्यर्थ के कुरीति-रिवाजों को हटाने के लिये, समाज में रहने वाले व्यक्ति को शांति के साधन जुटाने के लिए सेवा करें। उसे मानसिक प्रसन्नता का अनुभव होगा। लोग कहेंगे कि यह व्यक्ति अपने स्वार्थ से ऊपर उठ गया है, उस व्यक्ति की दृष्टि यदि आगे बढ़े और वह सोचे कि जैसे मैं परिवार और समाज की सेवा कर रहा हूँ, वैसे ही राष्ट्र और विश्व के मानवों की सेवा के लिये चल पड़ूँ तो और अधिक उसमें चमक आ जाती है। और जब उसका यह विचार हो कि मैं परमात्मा की सेवा करूँ तो वह आगे बढ़कर उस परमात्मा की सेवा का उपाय चाहता है। वह सोचता है कि मैं परमात्मा की सेवा किस तरह से करूँ ? जब उसको ज्ञान होता है, कि परमात्मा अभी सशरीर विद्यमान हैं और तीर्थकर देव की स्थिति में भूमण्डल पर विचर रहे हैं; केवलज्ञान, केवलदर्शन से युक्त हैं, मुझे उनकी सेवा तभी मिल सकती है, जब मैं छोटे से छोटे और बड़े से बड़े प्राणी को अभयदान दूँ, उनको निर्भय बनाऊँ। जब तक मैं छोटे-बड़े प्राणियों को सताता रहूँगा —

मुझे सेवा का लाभ नहीं मिलेगा। अन्य प्राणियों को सताने से आत्मा में कलुषता आती है, चित्त मलिन बनता है, उससे मैं परमात्मा की सेवा नहीं कर सकता। तीर्थकर देव, जो अतिशय युक्त हैं, साधु परिवेष से सारे भू-मण्डल पर विचरण कर रहे हैं, उनकी सेवा चित्त की परिपूर्ण शुद्धि करके ही की जा सकती है। यह तभी बनेगा जब मैं भविष्य में होने वाले पापों को रोक दूँगा। अर्थात् जो मैं तीर्थकर देव की, भगवान की सेवा करना चाहूँ तो उसी रोज से छोटे-बड़े प्राणियों को तीन करण, तीन योग से हिंसा न करने का प्रण लेकर उन्हें निर्भय बना दूँ। मैं स्वयं हिंसा नहीं करूँगा, न कराऊँगा और न करते हुए को भला समझूँगा — मन से, वचन से और काया से। इस प्रकार प्रण जब ग्रहण करूँगा, तो उस समय भविष्य में चित्त की जो मलिनता आने वाली थी, वह रुक जायेगी तथा भूतकाल की मलिनता को धोने का उपाय मेरे हाथ में आ जाएगा। तीर्थकर देव की सेवा का व्रत अंगीकार करके उनके अनुसार चलूँगा तो वह तीर्थकर देव की सेवा होगी। धन्ना अणगार, जो बहुत सुकुमाल थे, उन्होंने सोचा और चिन्तन किया कि इन सेवाओं की अपेक्षा तीर्थकर देव के चरणों में रहकर उनकी सेवा करना, इस जीवन में उत्कृष्ट सेवा का अवसर होगा। उन्होंने रमणियों को त्यागा, पांचों आश्रवों के कारणों को छोड़ा तथा जीवन के मंगलमय प्रसंग साधु-जीवन को अंगीकार कर लिया और तीर्थकर देव के चरणों में पहुँचे। ऐसे अनेक महापुरुषों ने इस प्रकार की सेवा को अंगीकार किया और तीर्थकर देव की सेवा में उपस्थित हो गए। जिस समय भगवान महावीर को रक्त की दस्तें हो गईं, उस समय भगवान महावीर यथाख्यात चारित्र से संपन्न परिपूर्ण केवलज्ञानी थे। उस वक्त सेवाभाव में तल्लीन रहने वाले सिंह अणगार ध्यान कोठे में बिराजमान थे और जब सेवा का मौका सामने आया तो इस जीवन को प्रभु के चरणों में समर्पित किया। उन्होंने माना — प्रभु को अशातावेदनीय ने घर लिया है और रक्त की दस्तें लग रही हैं तो भविष्य की आशंका से वे उद्विग्न हो गये। किस प्रकार मैं प्रभु की इस अवस्था में उन्हें साता पहुंचा सकूँ

और सेवा भावना से स्वयं को धन्य बताऊँ ? वे इतने अधिक उद्विग्न हो गये कि उनके नेत्रों से अश्रु टपकने लगे और लगभग आर्तध्यान की स्थिति में पहुँच गये। त्रिलोकीनाथ भगवान महावीर तो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी थे। उन्होंने ज्ञान में देखा कि, सिंह अणगार की सेवाभावना बहुत प्रबल बनी हुई है। इन्होंने जीवन समर्पित किया और सेवा में तत्पर हैं, परन्तु इनको पूरा ज्ञान नहीं होने से ये ध्यान में भी इस आर्तध्यान की परिणति में चले गए हैं। तो अन्य मुनियों को संकेत दिया और सिंह अणगार को अपने समीप बुलवाया। उनके आने पर कहा कि मैं अभी इस भूमंडल पर काफी समय विचरण करूँगा। और ये रक्त की दस्तें होना तो निकाचित कर्म का परिणाम है। साधना की अन्य विधियाँ इस निकाचित कर्म को तोड़ने में समर्थ नहीं हैं। तुम चिंता मत करो। तुम सेवा करना चाहते हो, तो ऐसा करो। देखो ! अमुक श्राविका के यहां दवा है, उसको लाओ। मैं उसको ग्रहण करूँगा। इस प्रकार की भावना से उनको लाभ दिया। परन्तु मैं यह कह रहा था, कि इस संसार की तुच्छ वासना से ऊपर उठकर, तीर्थकर देव की सेवा के लिए सिंह अणगार प्रवृत्त हुए। भगवान तो इस शरीर की अवस्था में नहीं रहे। वे मोक्ष में पधार गए। कोई भी भव्य जीव जो सेवा करना चाहता है वह कैसे कर सकता है ? जब यह अंतर की समस्या उलझती है तो उसे हल करने के लिये कभी—कभी ज्ञानीजन संकेत करते हैं कि घबराओ मत ! सेवा का अवसर भी मिल सकता है। तो इसमें ही एक संकेत मिलता है कि “एक कहे सेविये विविध क्रिया करी, फल अनेकांत लोचन न देखे। फल अनेकान्त किरिया करी बापड़ा, रडवडें चार गतिमाहे लेखे।।ध.।।२।। भगवान के बताये हुए मार्ग के अनुसार परिपूर्ण सेवा करना अति कठिन है। यह तलवार की धार पर चलने के समान है। वह सेवा कदाचित् तीर्थकर देव की उपस्थिति में, साधु बन कर तो कर सकता है, परन्तु आम जनता, साधु को छोड़कर साध्वी, श्रावक और श्राविकाएं कैसे कर सकते हैं ? क्योंकि परिपूर्ण साधुता की अवस्था में, श्रावक वर्ग न तो, तीर्थकर भगवान की और न तीर्थकर

भगवान के साधुओं की पगचंपी कर सकता है। पैर नहीं दबा सकता है। श्राविकाएं साध्वियों के नहीं दबा सकती हैं। यदि वे बीमार हो जाएं तो उनको आहार—पानी लाकर साधुजी को श्रावक नहीं दे सकता है और साध्वियों को श्राविका नहीं दे सकती है। उनके वस्त्र प्रक्षालन आदि भी, जो शरीर संबंधी सेवाएं हैं, वे श्रावक नहीं कर सकता है। साधु जीवन गहस्थाश्रम की अपेक्षा दूसरा जीवन है। अब उनका गहस्थाश्रम से साधु जीवन में पुनर्जन्म हुआ है। जीते—जी पुनर्जन्म है। पुनर्जन्म के रूप में साधु जीवन है। हाँ ! जो उनके समान साधु जीवन में है, वही उनके हाथ—पैर दबा सकता है। अन्य कोई नहीं दबा सकता। हाँ ! यह तो कर सकता है कि गोचरी के समय श्रावक के घर बता सकता है। औषधि—भेषज का, वैद्य—डॉक्टर का प्रसंग बैठा सकता है। परन्तु नजदीक की शरीर सम्बन्धी सेवा नहीं की जा सकती। गहस्थ साधु के चरणों में हाथ रख सकता है, परन्तु अन्य अंगों, कंधे, पीठ आदि पर हाथ नहीं रख सकता। जहाँ साधु कभी बीमार हो जाए और वैद्य को चिकित्सा की दृष्टि से नब्ज भी दिखाए तो लाचारी से दिखाई जाती है, उसका भी प्रायश्चित्त किया जाता है। तो श्रावक अपनी स्थिति से चले। इसी प्रकार, साधु भी अपनी स्थिति से चले। वह भी गहस्थ के ऊपर हाथ नहीं रख सकता है। कभी कई भाई नजदीक माथा लाकर कहते हैं कि महाराज ! आशीर्वाद दे दो। तो कहा जाता है कि यह दया पालो ही आशीर्वाद है। हम छू नहीं सकते हैं। यह संत-मर्यादा का प्रश्न है।

तो इस दृष्टि से शरीर के साथ भी इतने प्रसंग आ जाते हैं कि श्रावक मर्यादा में रहकर सेवा कर सकता है। परन्तु साधु अपनी मर्यादा में रहकर कर सकता है। तो इस प्रश्न का समाधान कैसे हो ? कृपालु सुज्ञानों ने इसका समाधान निकाला। अरे ! भाई ! चिंता क्यों करते हो ? सेवा ही तो करनी है। अभी सशरीरी तीर्थकर नहीं हैं अतः उनकी शरीर सम्बन्धी सेवा नहीं कर सकते हैं। और उनके जो अनुयायी हैं, उनकी भी सेवा नहीं कर सको तो कोई बात नहीं ! परन्तु प्रभु का बताया हुआ जो मार्ग है, उस मार्ग पर आप

चलो और विविध प्रकार की क्रियाएं करो तो इससे आप उनकी सेवा साध सकते हो। सेवा केवल हाथ-पैर दबाना ही नहीं है। परन्तु सेवा का लंबा दायरा है। एक व्यक्ति हाथ-पैर नहीं दबा रहा है, परन्तु फिर भी सेवा कर सकता है।

एक पिता के चार पुत्र हैं। एक पुत्र पिता के पास है और पिता की सेवा कर रहा है। पिता को नहलाता है-धुलाता है। परन्तु पिता बीमार है- शारीरिक वेदना हो गई। तो पुत्र उसकी वेदना को नहीं मिटा सकता है। वेदना से पिता कष्ट पा रहा है। भले ही अच्छा भोजन कराया जाए, पैर दबाए जायें। उसको वेदना हो रही है-तड़फ रहा है। और दूसरा पुत्र डॉक्टर है। डॉक्टर होने से वह सदा पास में नहीं रहता है। हाथ-पैर नहीं दबाता है। माता-पिता के पास भी नहीं आता है। जब सुनता है कि पिताजी बहुत कराह रहे हैं, वेदना पा रहे हैं, तो वह आता है और नब्ज देखकर, दवा बताकर चला जाता है। भाई को कह जाता है कि इस-इस प्रकार दवा देते रहना। तो दूसरे पुत्र ने, न तो हाथ-पैर दबाने की सेवा की, न औषधि मुंह में देने की सेवा की और कहकर चला गया। तो उसकी सेवा है या नहीं ? कहिए। कौनसी सेवा बड़ी है ? आप देखिए कि हाथ-पैर दबाने की अपेक्षा, जो मानसिक सेवा है, मन को शांति देने की सेवा है, वह बड़ी है। उसके साथ ही दिमाग की सेवा भी महत्त्वपूर्ण है। मुकदमेबाजी की उलझन में जो पुत्र हाथ-पैर दबाने वाला है वह क्या कर सकता है ? कोर्ट में ऐसा मुकदमा फंस गया, जो बड़ा पेचीदा है और उसको दिमागी शांति नहीं मिल रही है। परन्तु उस व्यक्ति का तीसरा पुत्र, जो एक अच्छा माना हुआ कानून का जानकार, अनुभवी वकील है, तो वह मस्तिष्क से सेवा करने आता है। अपने दिमाग से मुकदमे को जिताकर उसे शांति करा देता है। तो सेवा के कई प्रकार हैं। अब न मस्तिष्क की उलझन है, न खाने-पीने की कमी है, परन्तु मानसिक रोग पैदा हो गया। जिसका इलाज डॉक्टर, वैद्य और वकील नहीं कर सकते हैं। तो उसका निराकरण करने वाला, उसका चौथा पुत्र पहुँच जाता है और उसके

मानसिक रोग का शमन कर देता है।

देखिए ! चारों ने सेवा तो की, परन्तु महत्त्वपूर्ण सेवा किसकी रही ? आप क्या न्याय देंगे ? कभी जज के पद पर बैठकर देखिए ! अरे ! अन्य-अन्य सेवाएं तो घरेलू कार्य में रहकर भी कर सकते हैं। परन्तु मानसिक सेवा, उनको आध्यात्मिक बोध देना, यह तो आध्यात्मिक तत्त्व का वेत्ता ही कर सकता है। और अनुभूति के साथ तभी कर सकता है, जब वह साधु परिधि में चलकर के, सब जीवों को अभयदान देता हुआ चलता हो। जैसे माता-पिता अपनी सन्तानों को आशीर्वाद प्रदान करते हैं वैसे ही वह सब जीवों को अभयदान देता है। जैसे माता-पिता का शुभ आशीर्वाद होता है, वैसे ही समस्त प्राणियों के प्रति वह रक्षा की भावना को लेकर चलता है। वह भगवान की आराधना के लिये विविध क्रियाएं भी करता है।

व्यक्ति सोचता है कि मैं प्राणायाम द्वारा भक्ति करूँ, माला फेरकर भगवान की भक्ति करूँ और कुछ सोचते हैं कि हम स्वाध्याय, ध्यान द्वारा सेवा करें। विविध क्रियाएँ हैं। उनमें तप-साधना भी क्रिया है। भाई-बहिनें सोचते हैं कि और कुछ नहीं बन सकता है तो हम तप करें। भगवान के चरणों में रहकर आत्मा को शुद्ध बना लें। भगवान ने बारह प्रकार के तप बताए हैं, उनमें अनशन भी है। लंबी-लंबी तपस्याएँ भी भाई-बहिन करते हैं। वे सोचते हैं कि तप के द्वारा भगवान की सेवा करके, हम आत्मा को शुद्ध कर सकेंगे। तलवार की धार से भी अधिक कठिन कार्य कर सकेंगे। बहिनों में मासखमण भी किये जाते हैं। और फुटकर तपस्याएँ भी करती हैं। उमरावबाईजी के आज अट्टाईस की तपस्या है। अभी इनके और भी आगे बढ़ने के भाव हैं। इन्होंने अजमेर और राणावास में भी मासखमण की तपस्या की है। अभी भी अट्टाईस तक पहुँच गए हैं। लगता है, मासखमण से कम नहीं करेगी। विविध संत और सती वर्ग विविध स्थलों पर रहकर भगवान की सेवा कर रहे हैं। भगवान की वाणी का प्रचार और प्रसार कर रहे हैं। विविध क्रियाओं में लग रहे हैं।

अभी खाचरोद की बात भी आई। पुष्पमुनि ने भी बावन की तपस्या की। मैं समझता हूँ कि स्व. आचार्यश्री के शासन की तरह वर्तमान में भी तपस्याओं का ज्वार आ रहा है। इसमें मनोबल ही काम कर रहा है, प्रेरणा दे रहा है। बेले—बेले पारणा सेवन्त मुनिजी कर रहे हैं। और तेले की भावना चल रही है। मैं कहां तक उल्लेख करूँ। जहां सतियांजी का मुक्टी ग्राम में चातुर्मास हुआ तो भाई माणकलालजी राणावास में परिचय में आए और सतियों का चौमासा कराया। परन्तु क्या उपलब्धि हुई ? भाई माणकलालजी सात की तपस्या करके आए और यहाँ आकर तैतीस की तपस्या पचखने के लिए तैयार हैं। यह तप भगवान महावीर के इस शासन की महत्त्वपूर्ण सेवा है। इसीलिये कई भाई—बहिन तपस्या कर रहे हैं। पूर्व में नोखा मंडी निवासी झूमरमलजी के जमाई ने यहां आकर पारणा किया। उदयपुर निवासी तो लाभ ले ही रहे हैं। जो बाहर के भाई हैं, वे भी तपस्या का लाभ लें। ऐसा नहीं कि लम्बी तपस्या करेंगे, तभी लाभ होगा। भगवान ने बारह प्रकार के तप बताये हैं, तो उनमें से कोई भी तप करोगे, तो भगवान की सेवा होगी। और भी कठिन तपस्या करना चाहें, तो वह तलवार की धार से भी तेज है, कठिन है।

बंधुओ ! कल मैंने कहा था कि गुस्सा नहीं करना भी तपस्या है। बहिनें तेला या दूसरे तप करने को तैयार हो जायेंगी। माणकलालजी ने अभी तैतीस की तपस्या की परन्तु उन्हें कहा जाए कि तैतीस दिन गुस्सा नहीं करें, तो ऐसा करना जरा कठिन होगा। इसमें खाना नहीं छोड़ रहे हैं, गुस्सा करना छोड़ रहे हैं। अरे ! आप भगवान की सेवा करना चाहते हैं न ! तो— “धार तरवार नी सोहेली, दोहेली। चौदमा जिण तणी चरण सेवा।” बंधुओ ! यह तलवार की धार पर भी चलने से कठिन सेवा है। मैंने कल कहा था कि क्रोध शमन कैसे किया जाए ? मैं कल ही बोल गया था कि एक सच्चा व्यापारी गुस्सा नहीं करेगा। डॉक्टर, वकील, विद्यार्थी आदि जो गुस्सा नहीं करते हैं तो वे अपने—अपने व्यवसाय में दिन—प्रतिदिन उत्तरोत्तर उन्नति के शिखर पर आरोहण करते जाते हैं। और गुस्सा करने वाले लोकप्रिय

नहीं होकर सबके घणा के पात्र बन जाते हैं। इस प्रकार की लौकिक बातें बता गया था। वे आपके ध्यान में रही ही होंगी। इसी रूप में, आध्यात्मिक दृष्टि से यदि आप भगवान की सेवा करना चाहते हैं, तो गुस्से को शान्त करने की कला सीखिए ! आप ब्रह्ममुहूर्त में समभाव की साधना में बैठिए। और दढ़ संकल्प कीजिये कि मेरे जीवन में आज गुस्सा स्थान नहीं पाएगा। और यदि आएगा तो मैं वहीं उसका शमन कर दूंगा। ऐसी प्रतिज्ञा कीजिये तथा उसके साथ सतर्क रहकर देखते रहिए कि गुस्सा आ रहा है, या नहीं ? यदि कोई छेड़ने वाला भी मिल जाए, परन्तु उस समय उत्तेजित नहीं हों। कोई आपका आदर—सत्कार करता हो, तो वहां क्षमाशील रहने में कोई बड़ी विशेषता की बात नहीं है। परन्तु गुस्से में शान्त रहना, क्षमा रखना, यही तो विशेषता की बात है। इसको प्रतिदिन अभ्यास करें। यह कोई दुस्साध्य नहीं है, साध्य है, संभव है। तो भगवान का वाक्य है कि “कोहंपासह”। क्रोध को देखें। जब क्रोध आए तो देखें कि क्रोध क्या चीज है ? और देखने की चेष्टा करेंगे तो वह भागता हुआ नजर आएगा। अंधकार यह सोचे कि मैं सूर्य का मुकाबला करने वाला हूँ। मैं प्रकाश की किरणों का नाश करने वाला हूँ। मैं उसे देखना चाहता हूँ। परन्तु अंधकार को सूर्य की किरणें दिखेंगी क्या ? सूर्य की किरणों के उदय होते ही, वह भाग जाएगा, चला जाएगा। वैसे ही अंदर की अज्ञान वृत्ति, क्रोध को देखने की चेष्टा कीजिये। आपका ज्ञान अर्थात् विवेक देखने की चेष्टा करेगा। आपको यह हो कि— “कोहं पश्यामि।” क्रोध को देखता हूँ ! कब क्रोध आए और मैं उसे देखूँ ? कदाचित् इतनी शक्ति नहीं हो, तो उसके लिए और भी उपाय है। एक साधारण उपाय है। मेरे भाइयों को यह लगता है कि मन पर अंकुश नहीं लगता है इसलिए हम देख नहीं सकेंगे। तो आपके पास में फ्रासुक पानी, धोवन या गर्म पानी हो और वह पड़ा हुआ हो। और किसी ने छेड़ा तो देखो कि किसी ने छेड़ा और गुस्सा आ रहा है तो उसी समय उस फ्रासुक पानी को मुंह में भर लीजिये ! उसे न तो बाहर थूकिए और न गले से नीचे उतारिए। आप देखेंगे

कि गुस्सा भागता हुआ नजर आएगा।

जब इंदौर में क्रोध का प्रकरण चला, तो श्रीलालजी खांडिया खड़े होकर कहने लगे कि महाराज ! गुस्सा नहीं करने की प्रतिज्ञा करा दीजिए। तो मैंने कहा— देखिए ! आपको उत्तेजित करने वाले बहुत मिलेंगे क्योंकि आप वकील हैं। और उत्तेजना आई और उसे दबा दिया, तब तो प्रतिज्ञा निभ जाएगी। उन्होंने उत्तर दिया— महाराज ! हमने भी कला सीख ली है कि कोई भी प्रतिवादी उत्तेजित करे, तो शांति से ही जवाब देना है। उन्होंने क्रोध करने का त्याग कर लिया। वे कहने लगे कि जिस दिन क्रोध आएगा, दूसरे दिन उपवास कर लूंगा। तो मैं सोचता हूँ कि आप लोग यह भी तो आनन्द लीजिए ! यह अभ्यास की प्रक्रिया है। जिसकी जितनी बुद्धि हो, तार्किकता हो और समझने की कोशिश करेगा, तो समझने की भी कोशिश की जाएगी। आप इतनी सूक्ष्मता में नहीं जाकर जो छोटी-छोटी बातें बताई हैं, उनका भी पालन करेंगे, तो गुस्सा नहीं आएगा। जो राजकन्या का चरित्र चल रहा है, वह भी गहस्थ नारी है और उसके सामने अनीति—अत्याचार का प्रसंग है परन्तु गुस्सा नहीं कर रही है। जबकि आप पर कौनसी आपत्ति आई है ? जब आपत्ति आए और समभाव में रहे तो उसकी विशेषता है।

चारित्र

समता श्रेयकारी, तू ले जीवन में धार।

आयंबिल तप से कृश

बदल गया आकार, समता श्रेयकारी।।

भव्यशीला राजकन्या थी। उसने प्रभु की सेवा प्रारंभिक रूप से घरेलू कार्यों के माध्यम से अपना करने की चेष्टा की। उसने सोचा कि शादी भी हो, तो शादी सादगी से हो। सादगीभरा जीवन ही मेरी प्रभु—सेवा होगी। मैं व्यावहारिक सेवा से प्रभु की सेवा तक पहुँचना चाहती हूँ। मैं जिस अवस्था में हूँ, उसी में निर्विकारी भावना को

बढ़ाने की चेष्टा करूँ। पर विषम परिस्थिति आती है, तो परीक्षा भी होगी। इस प्रकार की शादी की भावना से कई श्रेष्ठ जन, खुशी मनाने लगे। परन्तु कई राजा लोगों ने, रूप के पतंगों ने आक्रमण भी कर दिया, घेरा डाल दिया। इस राजकन्या को जबरदस्ती से वरण करना है। परन्तु राजकन्या की उत्तेजनारहित बुद्धि ने, गुस्सा नहीं करते हुए, बिना किसी आयुध के, सबको रवाना कर दिया और सबको एक ही प्रकार का पत्र भेजा कि छः महीने तक मैं इष्टदेव की आराधना करूँगी। और इस तिथि पर आप पहुँचें। पत्र में लिखा कि आप एक—दूसरे के सामने बात नहीं करें। यदि बात कर दी तो मैं नहीं बुलाऊँगी। यह पत्र पढ़ा, तो उनके छः महीने बहुत मुश्किल से बीते। एक दिन भी निकलना मुश्किल हो गया। उस घड़ी की याद में बेभान हो गए। क्योंकि जो मनुष्य, पांच इन्द्रियों के विषयों में अपना अमूल्य जीवन झोंक देते हैं उनकी यही दशा होती है। तो भव्यशीला ने छः महीने की अवधि में आयंबिल का तप किया।

आयंबिल तप की साधना भी बड़ी कठिन है। इससे शरीर कृश बनता है। आयंबिल में लूखा और अलूना अन्न और वह भी पानी से धोकर, नीरस बनाकर खा लेना और ऊपर से उस धोए हुए पानी को पी लेना होता है। यह मन की दृढता पर आधारित है। अरे ! यह लालीबाई, चरका—फरका खाने के लिये तैयार रहती है। वह राजकन्या भी यही करने लगी। वह सोचती है कि छः महीने में मैं अंदर की शुद्धि कर लूँ। मन को जो चीज अच्छी लगती थी उसको उसने त्यागा और लूखा—सूखा खाने लगी। आज आयंबिल की प्रवृत्ति बदल गई है। आज आयंबिल के नाम पर कई तरह की चीजें खाने लगे हैं। एक फुलके को भी पानी में डालकर खाएँ तो आपका मन मचल जाएगा। परन्तु भव्यशीला ने भगवान के कथन के अनुसार, आयंबिल तप शुरू किया और छः महीने में शरीर को कृश बना दिया। जब शरीर को पौष्टिक पदार्थ नहीं मिलते हैं, तो वह कृश होता ही है। यह देख, सारे परिजन चिंतित हो गए।

सकेगी ? वह बोली आप देखते रहिए ! कैसे जीतती हूँ ? उसने आयंबिल तप की समाप्ति पर तेला किया और उसी दढ़ संकल्प में तन्मय हो गई। अंतर्-साधना से ही व्यक्ति अपने दोषों को जीतता है और उन पर अंकुश कर पाता है। इसी से शक्ति प्रकट होती है। भक्ति से शक्ति प्रकट होती है, यदि वह सच्चे दिल से हो।

**तेला समाप्ति पर यथासमय में, आभास होता.....
करती है विचार, समता श्रेयकारी।**

छः माह के आयंबिल तप के पश्चात् उसने तेला किया, उसमें उसने रात्रि जागरण किया। वह नित्य प्रतिक्रमण करती और अपने अंदर आए हुए विकारों को निकालने की चेष्टा करती।

भगवान से प्रश्न पूछा गया कि प्रतिक्रमण से क्या लाभ होता है ? तो भगवान ने कहा कि, प्रतिक्रमण से पापों की शुद्धि होती है। प्रतिदिन अपने जीवन की शुद्धि के लिये जो प्रतिक्रमण कर रहा है उसका अर्थ है आत्मा में जो विकार उत्पन्न हो गये, आत्मा अपना स्वरूप छोड़कर बाहर चली गई, उसको पुनः स्वरूप में लाना है। तो भगवान महावीर के शासन में दो समय प्रतिक्रमण करना बताया है। दोनों समय जो अपने जीवन की आलोचना करके, बुराइयों का परिमार्जन करता है, वह आगे की श्रेणियों को प्राप्त करता है। आप सोचते होंगे कि भगवान महावीर की प्रतिक्रमण साधना पुरानी परम्परा है। आज तो ध्यान की साधना चल रही है। आप मौन, ध्यान की बात सुनते हैं। भगवान महावीर ने जो प्रतिक्रमण की बात कही है, वह ध्यान ही है। जिनको प्रतिक्रमण याद नहीं है वे उपेक्षा भाव से सुन लेते हैं। परन्तु आपने कभी समझने का भी प्रयास किया है ? अभी आपको अंग्रेजी के शब्द याद करने हों, तो कितनी तन्मयता से याद करते हैं। परन्तु प्रतिक्रमण को समझने की कोशिश नहीं करते। आप भले ही जैन नाम धराने वाले, प्रगाढ़ निद्रा में सोए रहिए। परन्तु आज दुनिया भौतिकवाद से तंग आकर, ध्यान की तरफ बढ़ रही है। परन्तु जिनको विरासत में ध्यान की थाती मिली हुई है वे आज पीछे हट रहे हैं। वे ध्यान में आगे बढ़ जायेंगे। जैसे वे भौतिक विज्ञान में

परिजन चिंता व्याप्त हुई है, राजकन्या क्या सोच रही है।

क्या समझा इस बार, समता श्रेयकारी।।

परिवार के लोग विह्वल हैं और सोच रहे हैं, ऐसी बुद्धिशालिनी अपने परिवार में जन्म लेने वाली राजकन्या है। इसमें कितनी शूरवीरता है कि हम रक्षा नहीं कर सके। परन्तु इसने उन राजा लोगों को अपने बुद्धि कौशल से हरा दिया। वे राजा लोग छः महीने में आयेंगे। क्या उसके पहिले ही यह अपने जीवन को समाप्त करना चाहती है ? इसने शरीर इतना कृश बना लिया कि यदि यह क्रम चालू रहा तो हम राजकन्या को खो देंगे। वे सब निवेदन लेकर पहुँचे और कहने लगे कि बाईजी ! आप मत घबराइए। कितना ही कष्ट आए, हमने उसके लिये सेना तैयार कर ली है। आततायी राजाओं को हम जेल में डाल देंगे। तब भव्यशीला मुस्कराकर कहने लगी, कि क्या आप सोच रहे हैं कि मैं राजा लोगों से डरकर शरीर की आहुति देना चाहती हूँ ? मैं मरूँगी भी तो वीर गति से मरूँगी। जब तक शरीर में प्राण हैं, मैं राजा लोगों को समझाने की चेष्टा करूँगी। रावण ने सीता पर बलात्कार नहीं किया था, परन्तु यदि कोई मुझ पर बलात्कार करने पर उतारू भी हो जाएगा, तो मैं उसी क्षण आहुति देने को भी तैयार हो जाऊँगी। उसके पहिले मैं इष्टदेव का ध्यान करूँगी। आप भी शांति सेना में आयंबिल तप कराना चालू कर दीजिये। मुझे आप सब आशीर्वाद दीजिए कि मैं इस कार्य में विजयश्री प्राप्त कर सकूँ।

**विविध रूप से करे निवेदन, मन ही मन में होता वेदन।
भविष्य कल्पना धार, समता श्रेयकारी।।**

उसने परिवार वालों की विविध शंकाओं का समाधान किया। कोई उत्तेजित होकर भी बोलने लगा, परन्तु भव्यशीला उत्तेजित नहीं हुई। परिवार वालों ने कहा— क्या तू शांत भाव से इन्हें जीत

पावो जीवन सार, समता श्रेयकारी।।

यह ध्वनि रूप आभास उसे हुआ। राजकुमारी का भव्यशीला उपनाम है। वास्तविक नाम चंद्रकान्ता है। तुम मन में रोष मत आने दो। कितने ही राक्षस वृत्ति वाले राजा लोग अत्याचार करें, तो भी तुम घबराना मत। गुस्से में मत आना। यदि तुम भय खा गई, तो सफलता में संशय हो जाएगा। निर्भय रहोगी तो सब काम सफल होंगे। तो उस ध्वनि से उसे संदेश मिला। बाद में वह ध्वनि लुप्त हो गई।

तेले बाद भी भोजन स्वल्प था, सादा भोजन लेती थी।

उस बार, समता श्रेयकारी।।

तेले का पारणा किया। आयंबिल तप की समाप्ति आई, तो भोजन ले रही है। परन्तु सीधा—सादा भोजन कर रही है। छः महीने की अवधि समाप्त हुई ! कामातुर राजा लोगों के रात और दिन कैसे बीतते होंगे ? मेरी तरफ से पत्र नहीं पहुँचा, तो कहीं घेरा नहीं डाल दें ? उसने अलग—अलग तिथि के अलग—अलग पत्र दिये। उनके पास पत्र पहुँचे, तो पत्र को पाकर प्रफुल्लित होते हैं। अब वे राजा भव्यशीला के पास कैसे पहुँचते हैं ? यह समय पर ज्ञात हो सकेगा।

इत्यलम्

भगवान की सेवा और अनेकान्त दृष्टि

प्रार्थना

धार तरवार नी सोहेली, दोहेली, चोदमा जिण तणी चरण सेवा।

आगे बढ़े तो क्या वे ध्यान में आगे नहीं बढ़ पायेंगे, यदि वे जाग जायें तो ? हमें सोचना होगा कि ध्यान हमारी कौनसी थाती है, कौनसा खजाना है ? कहने का अर्थ यह है कि सोचेंगे तभी आगे बढ़ेंगे और नहीं सोचेंगे तो पीछे रह जायेंगे। अगर आप चाहते हैं कि जगत् में शान्ति रहे तो आपको भगवान महावीर के बताये मार्ग पर आना ही पड़ेगा। उसके बिना कोई चारा नहीं है। तलवार की धार पर चलने से भी कठिन प्रभु की सेवा को स्वीकार करना ही होगा। आज विज्ञान घूम—फिर कर उसी रास्ते पर आ रहा है। जैन सिद्धान्त विज्ञान की कसौटी पर खरे उतरते हैं, फिर भी भगवान महावीर के अनुयायियों की आंखें नहीं खुल रही हैं।

बंधुओ ! आप तो आंखें खोलकर बैठे हैं न ? आप जानें ! राजकुमारी भव्यशीला दोनों समय प्रतिक्रमण करती है और पिछली रात्रि में धर्म जागरण में बैठती है। तो उस समय उसको कुछ आभास हुआ। वह आभास देखकर भयभीत नहीं हुई। वह चमकी नहीं, चौंकी नहीं। परन्तु सहजता के साथ समता भाव में चल रही है। मनुष्य ऐसे प्रसंगों पर आवेग में आ जाता है। खुशी और नाराजगी का भी आवेग होता है। वह प्रफुल्लित भी नहीं हुई और घबराई भी नहीं। परन्तु समता के साथ वह देखने लगी कि क्या आवाज आ रही है ? तो उसके अंतःकरण में एक आवाज झंकृत हुई।

निर्भय होकर करो कार्य तुम, जीवन में सफल बनो तुम।

साथ किसी फल-विशेष की आकांक्षा करता है और यह सोचता है, कि मुझे इन क्रियाओं से अमुक लाभ की प्राप्ति हो और मैं अपने मन, वचन, काया के योगों को शुभ कार्य में लगाऊँ। शुभ कार्य के परिणामस्वरूप मेरा पुण्यबंध हो और मैं सब तरह से वैभवशाली बनूँ। इस भावना से यदि उसकी क्रियाएं हो रही हैं तो वे क्रियाएं शुभ नहीं कही जा सकती। निष्काम भाव से की गई क्रियाएं ही शुभ होती हैं।

जैन दर्शन अनेकान्तप्रधान है। वह वस्तु के स्वरूप को विविध दृष्टिकोणों से देखता है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक ही अंश को सम्पूर्ण वस्तु मान लेना मिथ्या है, अतः वस्तु को अनेकान्त दृष्टि से देखना चाहिए। जो अनेकान्त दृष्टि से वस्तु को देखता है, वह सही रूप से उस वस्तु के स्वरूप को पा लेता है। निष्काम भाव से की जाने वाली क्रियाएं संसार की बंधनकारक नहीं होती। परन्तु जो आत्मा अनेकान्त लोचन से देख नहीं पाती वह यथार्थ द्रष्टा नहीं है। अर्थ नेत्र हैं। नेत्रों से दुनिया जिन द्रव्य नेत्रों को समझ रही है वे तो उन आन्तरिक नेत्रों के माध्यम हैं, जैसे उपनेत्र (चश्मा) इन नेत्रों का सहायक है, वैसे ही अंदर की दृष्टि की सहायक, ये आंखें उपनेत्रों की संज्ञा पा सकती हैं। परन्तु वास्तविक नेत्र तो अंतर्चेतना हैं। और यह अंतर्चेतना ही सही ज्ञान, सही स्फुरणा और स्याद्वाद ज्ञान की धारा है। सापेक्ष दृष्टि आत्मा की शक्ति मानी गई है और वह दूसरा लोचन है। वह दृष्टि आत्मा के नेत्र हैं। इस अनेकान्त स्याद्वाद की दृष्टि से जो व्यक्ति वस्तु को, क्रियाओं को, प्रक्रियाओं को, क्रिया के पीछे होने वाले फल को देखने की चेष्टा करता है, वह संसार में नहीं रुकता है। परन्तु सापेक्ष दृष्टि, यह केवल दिमागी उपज नहीं है, यह भीतरी शक्ति का संशोधित रूप है।

जिन आत्माओं ने, अपनी साधना के बल से, अंदर की शक्ति को विकसित किया और परिपूर्ण आध्यात्मिक शक्ति से संपन्न बने, उन्हीं आत्माओं के द्वारा इन लोचनों का कथन किया गया है। यह कथन, वीतराग-वाणी के अंतर्गत ही मिल सकता है। अन्यत्र, अपूर्ण व्यक्तियों के चिंतन में नहीं। पौर्वात्य और पाश्चात्य साहित्य-विद्वानों

**धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवना धार पर रहे न देवा।।
वचन निरपेक्ष व्यवहार जूठो कद्दो, वचन सापेक्ष व्यवहार साचो।।
वचन निरपेक्ष व्यवहार संसार फल, सांभली आदरी कांइ राचो।।**

बंधुओ ! परमात्मा की सेवा के सम्बन्ध में कुछ बातें रखी थीं। परन्तु प्रश्न सामने यह था कि परमात्मा की सेवा किन-किन विधानों से की जाती है ? कौनसा तौर-तरीका अपनाया जाये, जिससे प्रभु की भली-भांति सेवा हो सके ? कुछ व्यक्तियों का कहना था कि विविध प्रकार की क्रिया करना भी भगवान की सेवा है। क्रियाओं का तात्पर्य आचरण से है। मन, वचन एवं काया, ये तीन योग इस आत्मा को मिले हैं। इन तीन योगों की जो प्रवृत्ति है, वह क्रिया कहलाती है। प्रत्येक समय में मनुष्य क्रिया करता रहता है। चुपचाप कोई भी नहीं बैठता। शारीरिक दृष्टि से भले ही बैठा हो, परन्तु हाथ-पैर अवश्य हिला रहा है। हाथ-पैरों का संकुचन भी कर लिया, परन्तु पलकों का गिरना, श्वास की प्रक्रिया, अन्य-अन्य शरीर की जो सूक्ष्म क्रियाएं हैं, वे प्रायः चलती रहती हैं। कहा जाता है कि “या या क्रिया सा सा फलवती।” जो क्रिया होती है, वह फल वाली होती है अर्थात् क्रिया से फल मिलता ही है। क्रियाओं का फल दो रूप से होता है। साक्षात् फल और परम्परा फल। क्रिया करने का सीधा फल कर्मबंधन है। प्रत्येक क्रिया से कर्मों का बंधन होता है। परंपरा फल, कार्यों का फलोपभोग है। इन दोनों फलों की दृष्टि से क्रिया फलवती होती है। फल दो तरह के होते हैं। एक शुभ और दूसरा अशुभ। हाथ, पैर, शरीर, मन और वचन की क्रियाओं से शुभ कर्मबंधन रूप फल भी होता है और परंपरा फल शुभ पुण्य से। शुभ कर्म से आत्मा को शुभ फल मिलता है। अशुभ क्रिया से अशुभ कर्मबंधन एवं अशुभ फल की प्राप्ति होती है। इनसान को सोचना है कि उसको कौनसी क्रिया करना है ? वह कौनसी क्रिया करे कि जिससे परमात्मा की आज्ञा के अनुसार प्रभु की सेवा को जीवन में स्थान दे सके। शुभाशुभ क्रियाओं का आधार मन पर निर्भर है। मनुष्य अपने मन में क्रिया के

‘रड़वड़े’ का अर्थ है परिभ्रमण। एक दुख के बाद पुनः दुख, ऐसे दुखों की परम्परा चलती रहती है। वह सुख के साथ श्वास नहीं ले सकता है। और ‘बापड़ा’ का अर्थ है, दया का पात्र, बेचारे ने मनुष्य जन्म पाया और आकर आत्मा और परमात्मा के नाम पर मन, वचन, काया की क्रिया करने लगा, साधना करने लगा। परन्तु अनेकान्त लोचन नहीं होने से, वे संसार के दुःखों का कारण बनी। तो बापड़े का अर्थ बेचारा, असहाय आदमी है। यहां यह भाव अभिव्यक्त होता है कि लोचन का बड़ा भारी महत्त्व है। आप अपने जीवन में जो भी क्रिया करते हैं, अनेकान्त के साथ करें तो वह जीवन को सजाने वाली क्रिया बनती है। बौद्ध दर्शन आत्मा को क्षणिक मानता है। वह क्षणिकवादी दर्शन है। यानी प्रत्येक क्षण यह आत्मा नष्ट होती है। पहिले क्षण में यह आत्मा पैदा हुई और दूसरे क्षण में विनष्ट हो गई। वह अनित्य ही है। इस मान्यता से न इस जीवन का हित होता है और न पर जीवन का। संसार पक्ष में भी, वह व्यक्ति उससे समीचीन फल नहीं पा सकता। ऐसे क्षणिकवादी के लिए एक रूपक दिया कि एक भाई ऐसे अनेकान्त लोचन के अभाव का, अपने-आप में, एक सिद्धान्त बनाकर चलने लगा कि आत्मा एक क्षण में उत्पन्न होती है और दूसरे में नष्ट होती है। यह क्षणभंगुर आत्मा है। जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य और पर्याय वाला सत् होता है। ऐसा कोई सत् पदार्थ नहीं है जिसमें द्रव्य और पर्याय न हो। सत् पदार्थ द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। द्रव्य पर्याय से रहित नहीं होता है और पर्याय द्रव्य के बिना रहती। द्रव्य अन्वयी है और पर्याय अवयव है।

उदाहरण के लिए माला को ले ली जाये। माला के मणके अलग-अलग हैं इसी तरह वस्तु की पर्याएं अलग-अलग हैं। परन्तु जैसे माला के मणकों में एक अन्वयी द्रव्य धागा रहता है, जिसके सहारे सभी मणके व्यवस्थित बने रहते हैं। इसी तरह सब पर्यायों में अन्वयी द्रव्य एक रूप से बना रहता है। अतः न तो पदार्थ एकान्त नित्य है और न ही एकान्त अनित्य है। ये दोनों एकान्त मिथ्या हैं।

के द्वारा अच्छी तरह अनुशीलन किया जाए, तो इन साहित्यों में, कहीं भी अनेकान्त रूपी लोचन दृष्टिगत नहीं होता। वहां एकान्त दृष्टि ही है। एक पक्ष को लेकर ही सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। सांख्य दर्शन ने आत्मा को जरूर माना है। परन्तु वह आत्मा एकान्त नित्य, यानी सर्वथा कूटस्थ नित्य है। इसमें कोई परिणमन नहीं आता। यह बात जो कही जाती है, वह अनेकान्त लोचन के अभाव में कही जाती है। कूटस्थ नित्य आत्मा जो होगी, वह आत्मा इस संसार में, इस शरीर में आ ही नहीं सकती। और न वह शुभ, अशुभ कर्म ही कर सकती है। न वह किसी का भला, बुरा कर सकती है। एकान्त कूटस्थ नित्य में कोई क्रिया हो ही नहीं सकती। कथंचित् परिणामी होने पर ही क्रियाएं होती हैं। परिणामी आत्मा सारी प्रक्रियाएं कर सकती है। यह आत्मा शरीर को धारण करती है। इसमें भी परिणमन है। परिणमन का तात्पर्य है कि उसमें परिवर्तन का स्वभाव है। जितने भी वस्तु तत्त्व माने गए हैं, वे सब के सब, परिणामी माने गए हैं। क्रियावती शक्ति को प्रत्येक द्रव्य में दर्शनकारों ने स्वीकार किया है। क्रियावती शक्ति को जब माना जाता है, तो आत्मा उस क्रिया को करने वाली है। आत्मा की शुभ और अशुभ क्रियाओं का परिणाम अवश्य होता है। इसलिये आत्मा को मानकर यदि कोई क्रिया कर रहा है, तो अनेकान्त लोचन वाली क्रिया होती है। परन्तु आत्मा के स्वरूप को यदि कूटस्थ नित्य मानता है, तो उसकी क्रिया अनेकान्त लोचन के अभाव की क्रिया है। इसलिये कर्मबन्धन का निमित्त बनती है, चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण कराने वाली है। उससे अनेकानेक दुःखों का सामना करना पड़ता है। वह कितनी भी कठोर साधना क्यों न कर ले, परन्तु वह आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये कवि का संकेत है कि :-

**फल अनेकान्त लोचन न देखे,
फल एकन्त किरिया करी बापड़ा,
रड़वड़े चार गति मांहे लेखे !**

सामने सारा मसला पेश हुआ। न्यायाधीश कहने लगा कि, अरे भाई ! इनके रुपये लेना है, गवाही है, सब हैं और व्यक्ति यही है, तो फिर रुपये क्यों नहीं देता है ? उस क्षणिकवादी का वकील कहने लगा कि महोदय ! इनके धार्मिक सिद्धान्त को देखिए ! इनके सिद्धान्त के अनुसार आत्मा क्षण-क्षण में नष्ट होने वाली है। और मैं भी सोचता हूँ कि पहिले जो बयान दे गया, वह अब नहीं है और अब जो मैं हूँ वह पहले नहीं था। जिरह होने के बाद, आखिर में न्यायाधीश ने देखा कि कानून से तो यह मामला हल होने वाला नहीं है। एक युक्ति सोची और कहा— अच्छा, अच्छा ! मैं सोच पाया हूँ कि इस भाई के सिद्धान्त के अनुसार आत्मा सदा अनित्य है। हर क्षण नष्ट होने वाली है और इसकी आत्मा उसी समय, उसी क्षण नष्ट हो गई। मैं इसी सिद्धान्त के मुताबिक फैसला देता हूँ। उन्होंने फैसला लिखा कि अमुक भाई ने कर्जा लिया, दस्तखत किये, उस समय तो उसकी आत्मा थी और दूसरे क्षण नष्ट हो गई। वह दूसरे क्षण नहीं रही। तो मेरा फैसला है कि इस व्यक्ति की आत्मा जिस समय रुपये लेकर दस्तखत कर रही थी, उस समय इसकी हवेली थी। अगर वह व्यक्ति दस्तखत करने के बाद मर गया, तो अब दस्तखत नहीं रहे। और जब दस्तखत नहीं रहे, तो हवेली भी नहीं रही। इसकी हवेली भी नहीं रही। इसकी हवेली पर कब्जा कर लिया जाए और कुड़की करके और नीलाम करके, इस कर्जा देने वाले को रुपया दे दिया जाए। वह व्यक्ति कहने लगा— श्रीमान् ! हवेली तो मेरी है। तो जज साहब ने कहा— अब तुम्हारी हवेली कहां रही ? तुम तो उसी क्षण मर गए थे। अब तुम्हारा हवेली पर कोई अधिकार नहीं रहा। वह गिड़गिड़ाकर कहने लगा कि मैं रुपया देता हूँ। मुझे इसका रुपया देना है। तो दुनिया में कहावत है कि “सीधी उंगली से घी नहीं निकलता है तो टेढ़ी करके निकाला जाता है।” यदि अनेकान्त लोचन से देख लोगे, तो ऐसा प्रसंग नहीं आवेगा।

वीतरागदेव ने इन सारी समस्याओं का समाधान करने के लिये, अनेकान्त लोचन महत्त्वपूर्ण बताए। और कहा, तुम यदि

एक ने पर्याय को ही आत्मा मान लिया। उसने सोचा कि इस सिद्धान्त में बड़ा मजा है। मैं इस धार्मिक सिद्धान्त से संसार में बहुत बड़ा धनवान बन सकता हूँ। इसी भावना को लेकर उसने एक बड़े व्यापारी के यहां से कुछ रुपये उधार लेने की चेष्टा की। उसने उससे दस हजार रुपये लिए। नामा-लेखा कर लिया। गवाही लगा दी। और कह दिया कि मैं ब्याज सहित चुका दूंगा।

समय व्यतीत हुआ। अब जिसने रुपये दिए थे, उसको रुपयों की आवश्यकता महसूस हुई। उसने उस भाई को कहा कि तुम दस हजार रुपये ले गए थे। परन्तु अभी तक रुपए और ब्याज देने नहीं आए हो। किन्तु अब शीघ्रता से उनका भुगतान करो। थोड़े दिनों तक तो उसने इसी तरह टालमटोल किया। परन्तु एक दिन उसने उस भाई को उत्तर दे ही दिया। उसने कहा, जनाब ! आप मुझे व्यर्थ ही तंग कर रहे हैं। कहिए, मैं कब ले गया था दस हजार रुपये ? तो उस भाई ने कहा, अमुक तिथि को आप मुझसे दस हजार रुपये ले गए हैं, जिसका नामा-लेखा और गवाही-शहादत सब-कुछ अंकित है। वह क्षणिकवादी भाई कहने लगा, मेरे धर्म सिद्धान्त के अनुसार तो क्षण-क्षण में आत्मा समाप्त होती रहती है। आप कब के रुपये बता रहे हैं ? तो उस भाई ने कहा कि पांच वर्ष पहिले के रुपए हैं। आपके दस्तखत भी हैं। वह कहने लगा, भाई सा. ! जिस आत्मा ने रुपए लिए और दस्तखत किए, वह आत्मा उसी क्षण मर गई। जिसने दस्तखत किए, उससे लीजिए। मुझे आप व्यर्थ में क्यों तंग कर रहे हैं ?

यह बात सुनकर, कर्जा देने वाला व्यक्ति सोचने लगा, कि अब क्या किया जाए ? उसने सोचा कि, इसके दस्तखत हैं और इसकी आत्मा भी मरी नहीं है। तो अब न्यायालय का सहारा लिया जाय। वकील लोग लगाए गए। मुकदमा चला। न्यायाधीश के सामने मुकदमे की फाइल पेश हुई। उसके पास भी पैसा तो था ही। उसने भी अपने ही जैसा वकील तैयार किया। और इसी सिद्धान्त के अनुसार कहा कि आप मेरे मुकदमे की पैरवी कीजिये। न्यायाधीश के

जब मनुष्य के जीवन की अवधि समाप्त होती है और शरीर को छोड़ता है, शरीर की अपेक्षा से नष्ट होती है। परन्तु शुभ कर्म करेगी, तो स्वर्ग में चली जाएगी और देव का शरीर धारण कर लेगी। और अशुभ कर्म से नरक में चली जाएगी। केवल आकृति बदली, परन्तु वही आत्मा स्वर्ण की तरह देव, नरक और मनुष्य रूप में भी है। आत्मा नष्ट नहीं होती। परन्तु उसकी पर्याय परिवर्तित होती है। जैसे पानी वैज्ञानिक दृष्टि से हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का मिश्रण है। पानी भाप के रूप में भी बदल जाता है और भाप से पुनः पानी में परिवर्तित हो जाता है। पानी और भाप — ये दोनों जल की पर्याय हैं। इनमें परिवर्तन होने के बावजूद जल द्रव्य वही रहता है। जैसे वह द्रव्य नष्ट नहीं होता। वैसे ही जीव द्रव्य रूप आत्मा नष्ट नहीं होती। इस द्रव्य मात्र में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप तीन अवस्थाएं पाई जाती हैं। वस्तु के सही स्वरूप को समझे बिना, सम्यग्ज्ञान के बिना प्रभु की सही उपासना नहीं हो सकती। अतः भक्त को पहले सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये प्रयास करना चाहिये।

प्रश्नोत्तर काल में एक भाई का प्रश्न था कि सही ज्ञान क्या है ? उत्तर में कहा गया कि जो जीवादि तत्त्वों के सम्यक् स्वरूप को श्रद्धानपूर्वक जाने, वह सही ज्ञान है। आत्मा की शुभाशुभ प्रवृत्तियों का जो लेखा-जोखा करे, वह सम्यग्ज्ञान है। जो वस्तु तत्त्व को सापेक्ष दृष्टि से जाने, वह सही ज्ञान है। वस्तु के सापेक्ष स्वरूप को समझकर जो क्रिया करता है, उसकी क्रिया सार्थक होती है। इसके विपरीत, सही ज्ञान न होने पर, चाहे जितनी ही बाह्य क्रियाएं की जायं, लक्कड़ की तरह शरीर को सुखा डालें, परन्तु वे सब निष्फल होती हैं। मिथ्यादृष्टि की क्रियाएँ संसार में रूलाने वाली होती हैं।

लौकिक दृष्टि से भी अनेकान्त दृष्टि का महत्त्व है। यदि जीवन-व्यवहार में, अनेकान्त को स्थान नहीं दिया गया तो जीवन अशान्त और संघर्षमय हो जायेगा। यदि व्यवहार में अनेकान्त की लचक आ जाय तो जीवन शान्त और सामंजस्यपूर्ण बन जायेगा।

परमात्मा की सेवा करना चाहो और अनेक क्रियाएं भी कर रहे हो परन्तु उनको देखने के लिये उसके पीछे अनेकान्त के लोचन हों, तो वे क्रियाएं सुखदायी हैं, फलवाली होती हैं। अनेकान्त लोचन का अर्थ है कि आत्मा को अपेक्षा-विशेष से नित्य और अपेक्षा-विशेष से अनित्य माना जाए। नित्य और अनित्य दोनों मानने पर आत्मा में क्रियाएं घट सकती हैं। अन्यथा नहीं। उन क्रियाओं को आप अनेकान्त दृष्टि से देखोगे तो आपकी क्रियाएं सफल हो सकेंगी। शास्त्रकारों ने संकेत दिया कि सत द्रव्य क्या है ? तो बताया गया कि “उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्तं सत्।” जिसमें नवीन पर्याय की उत्पत्ति, पूर्वपर्याय का विनाश और द्रव्य की अपेक्षा ध्रुवता हो वह सत् पदार्थ है।

उदाहरण के रूप में लीजिये। एक व्यक्ति सोने की डली लेकर, स्वर्णकार के पास गया और स्वर्णकार को वह सोने की डली दिखा रहा है। वह स्वर्णकार से कहता है कि मुझे इसकी जंजीर बनवानी है। स्वर्णकार ने उस सोने की डली को गलाया और उसके तार खींचकर, सोने की जंजीर बना दी, अब वह डली का आकार नहीं रहा, परन्तु जंजीर का आकार आ गया। इतने ही में दूसरा व्यक्ति आता है, सोना खरीदने को, तो वह स्वर्णकार से कहता है कि मुझे स्वर्ण चाहिये। स्वर्णकार उससे पूछता है कि तुमको डली रूप में चाहिये या जंजीर रूप में चाहिये ? वह व्यक्ति कहता है कि सोना डली या जंजीर रूप में हो, तो भी कोई बात नहीं। आखिर दोनों आकारों में सोना ही तो होता है। मैं दोनों आकारों में सोना ही देखता हूँ। डली का आकार और जंजीर का आकार नष्ट हो जाने पर भी सोना नष्ट नहीं होता है। तो सोना दोनों अवस्थाओं में समान रूप से है। आकार बदलने से सोना नहीं बदलता। डली और जंजीर रूप से आकार बदल गया है परन्तु सोना दोनों अवस्थाओं में वही है।

सोना, स्वर्णद्रव्य की अपेक्षा नित्य है और आकार की दृष्टि से अनित्य है। वैसे ही आत्मा किसी अपेक्षा से नित्य और किसी अपेक्षा से अनित्य भी है। तो नित्य कैसे मानें ? यह आत्मा जब मनुष्य शरीर में रह रही है, तो यह मनुष्य की पर्याय है। मनुष्य की आकृति में है।

के बाद सारे शरीर में स्फूर्ति आ जाती है कि नहीं ? दूध पीने से शरीर में पोषक तत्व परिणत होते हैं। भोजन करते हैं, तो क्षुधा शान्त होती है। यह सब जानते हैं। परन्तु उस भोजन में कौन-कौनसे तत्व रहे हुए हैं, इसकी वैज्ञानिकों ने खोज कर निष्कर्ष निकाला और कितनी मात्रा में क्या-क्या तत्व हैं ? खोज करने पर इन तत्वों की जानकारी दुनिया के सामने आई। उन तत्वों पर मानव जीवन टिक रहा है। शांति का अनुभव कर रहा है। वैसे ही अनेकान्त दष्टि, सापेक्ष दष्टि का अनुभव प्रत्येक प्राणी कर सकता है। जिसने अपने जीवन में अनेकान्त दष्टि को नहीं अपनाया, उन्होंने परमात्मा की उपासना की सही विधि नहीं जानी। अतः परमात्मा की सेवा के लिए, अनेकान्त दष्टि को जीवन में स्थान देना चाहिए।

समता की दष्टि जीवन में उतरेगी, तभी अनेकान्त का फल जीवन में नज़र आएगा। अन्यथा विषमता जीवन में चलती ही रहेगी। आज दुनिया के लोगों में विषमता है, द्वंद्व है, अशांति है। जीवन में शांति नहीं है। क्या उनको दुनिया की सारी संपत्ति पर आधिपत्य जमाना है ? क्या ले जाना है ! और क्या साथ में ले जा सकते हैं ? तो वे भी एकांगी दष्टि लेकर चलते हैं। समता के धरातल पर अनेकान्त दष्टि को समझ लें, तो सारी की सारी समस्याएं हल हो जायें। परन्तु मनुष्य अपनी पकड़ी हुई बात को, एकान्त दष्टि को लेकर चलता है तो अशांति होती है।

देखिए ! रावण ने इस दष्टि को नहीं समझा तो उसका परिणाम यह हुआ कि वह हाय-हाय करता हुआ मर गया। शांति और सुख का अनुभव नहीं किया। जैन कथानक के अनुसार मणिरथ भी ऐसा ही कामान्ध था। वह अपने लघुभ्राता युगबाहु की पत्नी मदनरेखा को अपनी बनाना चाहता था। उसकी यह दुष्ट भावना सफल न हो सकी और उसे नरक में जाना पड़ा।

ज्ञानीजनों ने कहा है कि सल्लंकामा विषंकामा कामा आसीविषोवमा। कामेय पत्थमाणा अकामा जंति दुग्गई।" अर्थात् ये कामभोग शल्य के समान हैं, विष के समान हैं, आशीविष सर्प के

अतः अनेकान्त दष्टि का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक उपयोग करना ही चाहिए।

कहिए ! लक्ष्मणसिंहजी आप क्या है ? आप पिता है या पुत्र हैं ? आप पुत्र भी है और पिता भी हैं। यह अनेकान्त का मोटा उदाहरण है। जीवन के प्रत्येक प्रसंग में उसको स्थान दिया जाना चाहिए। यदि स्थान नहीं दिया जाए, तो पिता अपने पुत्रों से अपने पिता के विषय में कहे कि देखो ! पुत्रों ! यह मेरे पिता ही हैं और कोई नहीं हैं। तो पुत्र कहते हैं, पिताजी ! ये हमारे दादा ही हैं, और कोई नहीं है। प्रत्यक्ष में किसी का पिता है तो दादा भी है और किसी का पुत्र भी है। तो आप किसी के नाना, काका भी हैं। परन्तु पुत्र कहें कि हमारे दादा ही हैं और पिता कहता है कि मेरे पिता ही हैं, तो झगड़ा पड़ जाएगा। फिर एक क्षण के लिये भी शांति नहीं मिल सकती है। यह अनेकान्त सूर्य के प्रकाश के समान वस्तु को विशुद्ध स्वरूप को प्रकट करने वाला है। अतः इसे भली-भांति जीवन में स्थान दीजिये।

अनेकान्त दर्शन सर्वज्ञ-सर्वदर्शी परमात्मा ने अपने केवलज्ञान-केवलदर्शन से देखकर प्रतिपादित किया है। यह अनेकान्त दष्टि, मौलिक रूप में जैन दर्शन में ही है। अन्य दर्शनों में यह दष्टि है ही नहीं, क्योंकि वे दर्शन अपूर्ण ज्ञानियों द्वारा प्ररूपित हुए हैं। जिन्होंने अपने परिपूर्ण ज्ञान द्वारा अनेकान्त दष्टि को प्ररूपित किया, विश्व में प्रसारित किया, अपने जीवन-व्यवहार में उसे स्थान दिया, वे ही वास्तव में सच्चे मार्गद्रष्टा और सन्मार्ग के उपदेष्टा हैं।

मनुष्य भोजन करता है, दूध पीता है। चार दिन का भूखा है और दूध उसने ले लिया। परन्तु चार दिन के अंदर, जो शरीर में सुस्ती आई और पूरी आंखें भी नहीं टिमटिमा रहीं थीं — जिन्होंने विशेष उपवास नहीं किए हैं, उनके लिए बात है। भाई माणकलालजी ने कल पैंतीस पचखे थे। फिर भी शरीर पर प्रभाव तो होता ही है। एक उपवास में भी मनुष्य शिथिल बन जाता है, तो उसमें तीस, तैतीस, बावन, साठ उपवास, इतने उपवासों के बाद शरीर शिथिल नहीं हो, यह नहीं हो सकता। परन्तु उपवास के पारणे में दूध पीने

धरातल पर जिसके जीवन में आ जाता है, वह विपत्ति के समय में भी रोता—चिल्लाता नहीं है। यही बात भव्यशीला के जीवन से, आप को श्रवण करने को मिल रही है।

चरित्र

समता श्रेयकारी, तू ले जीवन में धार।

कृश समझकर बोला वहां पर, भव्यशीला कहां है यहां पर।

बोलो मधुर उच्चार। समता श्रेयकारी

भव्यशीला अपनी तपस्या की समाप्ति के बाद स्वल्प आहार, सादी खुराक, सादी पोशाक और सादे जीवन के साथ अपने प्रत्येक व्यवहार को समता के अनुरूप ढालने लगी। उसने उन राजा लोगों को तिथि दे करके संदेश भेजा। उस संदेश को पाकर, राजा लोग फूले नहीं समाए। प्रथम संदेश, जिस राजा के पास पहुँचा, वह राजा बांसों उछलने लगा कि बस ! बस ! उसने मुझे से वार्तालाप करने के लिये अवकाश दिया, तो वह मुझे अवश्य वरेगी। वह कल्पना करने लगा कि आखिर तो वह नारी है। नारी की सहज भावना श्रंगार प्रसाधनों की तरफ रहती है। उसको अच्छा खाना—पीना और फैशन अच्छे लगते हैं। संभव है, किन्हीं व्यक्तियों ने उसको बहका दिया हो, निर्णय कर लिया हो और पिता को कह दिया हो और दोनों पिता ने बात कर ली हो। परन्तु अंतःकरण में वह उन्हें नहीं चाहती थी। यदि चाहती तो मुझे संदेश नहीं भेजती। परन्तु वह चाहती है कि उसकी शादी खूब धूमधाम से हो। जैसे बड़े—बड़े राजा आए थे वैसे ही पुनः आयें। वैसे ही भोजन बने। तभी तो मुझे निमंत्रण भेजा है। मनुष्य अपनी भावना की तरह, दूसरे का मूल्यांकन करता है। जिस भावना में वह बह रहा है, दुनिया को भी वह वैसे ही देखना चाहता है। जबकि इस राजकन्या के मन में ऐसी कोई भावना नहीं थी परन्तु वह भाई एकान्त रूप से अंधा बना हुआ है। उसके अनेकान्त लोचन नहीं हैं। इसीलिये वह सजधज के साथ पहुंच गया।

समान हैं, काम की इच्छा करता हुआ, नहीं भोगता हुआ भी दुर्गति में जाता है। मणिरथ का छोटा भाई युगबाहु मृत्यु शैय्या पर छटपटा रहा था। क्योंकि मणिरथ ने मयणरेहा को प्राप्त करने हेतु अपने छोटे भाई की गर्दन पर तलवार चला दी थी। उसी समय युगबाहु की धर्मपत्नी ने ऐसे विषम समय में भी मोह—ममत्व का परित्याग किया और समता के धरातल पर आरूढ हो गई। सोचा कि मेरे पतिदेव परलोक की यात्रा के लिये जा रहे हैं। यदि इस समय मैंने रुदन मचाया कि हाय ! पतिदेव ! मुझे अकेली को छोड़कर कहां जा रहे हो ! हाय अब मेरा क्या होगा ? तो इस प्रकार विलापात करने से मेरे पतिदेव की गति बिगड़ जाएगी। इस समय उनकी आत्मा समभाव में न रहकर विपरीत दिशा में जा रही है। इनकी आत्मा में आर्त और रौद्र ध्यान की प्रबलता है। यह इनको नरक गति में ले जानी वाली बन सकती है। इस समय मेरा कर्तव्य है कि मैं मोह की भावना को छोड़कर इनको धर्म का पाथेय दूं, ताकि इनकी विषम भावना मोड़ खाकर समभाव में रमण करने लगे।

उसने संबोधन दिया कि पतिदेव ! आप जिसके प्रति द्वेष भावना ला रहे हैं, वह उचित नहीं है। सही अर्थों में वे अपराधी नहीं हैं। अपराध तो मेरा है, जिसके रूप में कामान्ध होकर उन्होंने यह कृत्य किया है। उनका तो आपके प्रति इतना स्नेह था कि उन्होंने अपने पुत्र को राज्य न देते हुए आपको दिया था। किन्तु मेरे रूप ने उन्हें विवेकहीन बना दिया। अतः आप उन पर द्वेष न लावें और इस अन्तिम समय में समाधि भाव में लीन बनें। मेरे प्रति भी मोह न रखें। मोह से बुद्धि मलिन हो जाती है। अतः समता रस में निमग्न होकर, आत्मकल्याण की साधना करें। अतः आप समता के धरातल पर आइए ! और अरिहंत सिद्ध देवों का शरणा लीजिये। पंच-परमेष्ठि का स्मरण कीजिये। उसने इस प्रकार की शिक्षा दी, जिससे युगबाहु की आत्मा राग—द्वेष की परिणति से हटकर, धर्म—ध्यान में प्रवृत्त हुई और सद्गति पाने की अधिकारिणी बन गई।

बंधुओं ! यह अनेकान्त सिद्धान्त, सही मायने में, समता के

भारतीयों की पोशाक याद है ? पहिले के भारतीय धोती और अंगरखी पहिनते थे। परन्तु अभी धोती वगैरह तो कहीं गायब ही हो गई है। वह सादी पोशाक में आगया। द्वाररक्षकों ने सब तरह से निरीक्षण कर लिया कि कोई शस्त्रादि तो नहीं है। हाथ में फैशन की दृष्टि से एक बैत थी। उन पहरेदारों ने कहा, आप यह भी अंदर नहीं ले जा सकते। कन्या के पिता ने यह भी कह दिया कि तुम दूर से वार्तालाप करते हुए देखते रहना।

जैसे ही उस राजा ने अंदर प्रवेश किया तो भव्यशीला सादी पोशाक में सामने खड़ी थी। उसने शिष्टाचार के नाते कहा—पधारिए ! परन्तु वह उसको देखने लगा। इधर—उधर दृष्टि डालने लगा। सोचने लगा कि क्या यही भव्यशीला है ? दूसरी तो नहीं है ? राजकन्या के वर्तमान रूप को देखकर उसे संशय हो रहा था क्योंकि छः महीने पहिले की भव्यशीला की जो आकृति उसके दिमाग में थी उससे यह आकृति मेल नहीं खाती थी। उसमें और इसमें रात—दिन का अंतर हो गया था। उसने सोचा कि यह भव्यशीला नहीं, परन्तु कोई दासी है और दासी भी वैसी कि जिसको कई रोज से खाना नहीं मिला हो। तो कहने लगा, सुनो ! भव्यशीला कहाँ है ? तो भव्यशीला कहने लगी कि :—

मदीय नाम है भव्यशीला, करिए मुझसे आप वार्ता।

अन्य कोई न बिचार।

निश्चय होकर भूप जो सोचे, क्या कुछ मामला कैसे सोचे ?

मन में करे विचार। समता श्रेयकारी।।

राजा ने जब पुनः पुनः पूछा कि भव्यशीला कहाँ है ? तो भव्यशीला ने गंभीर स्वर में उत्तर दिया कि महानुभाव ! आप मुझे ही भव्यशीला समझें, मुझसे वार्तालाप कीजिये ! परन्तु फिर भी उसको विश्वास नहीं हुआ। वह कहने लगा कि, अरी ! तू भव्यशीला है ? नहीं ! नहीं ! यह धोखा है। कन्या का पिता राजा बड़ा चतुर और

उसका सत्कार किया गया। भव्यशीला ने पिताश्री को परामर्श दिया कि मैं जिस किसी राजा को निमंत्रण देकर बुलाऊँ, तो आप अन्यथा कल्पना नहीं करें कि मैं उसको शादी करने के लिये बुलवा रही हूँ। ऐसा आप नहीं समझ लें। आए हुए का यदि सत्कार—सन्मान नहीं किया, तो वह योग्य नहीं रहेगा। आप मानवता के नाते आए हुए व्यक्ति का सत्कार कीजिए ! और आप भूल जाइए कि यह मेरे ऊपर छः महीने पहिले चढ़कर आया था। मेरे राज्य को और मुझको तहस—नहस करना चाहता था परन्तु इस समय मन में यह आए कि यह अतिथि है तो सत्कार करना है। राजा ने पुत्री के परामर्श के अनुसार उस राजा का सत्कार किया और अतिथिगृह में उतार दिया। वह राजा तो राजकन्या से मिलने के लिए अधीर हो रहा था। उसने शीघ्र राजकन्या से मिलने की व्यवस्था करने हेतु कन्या के पिता से कहा। इधर कन्या के पिता ने पूरी सावधानी रखते हुए, सारी व्यवस्था कर रखी थी। विश्वस्त व्यक्तियों को द्वार पर नियुक्त कर दिया। उन्हें यह आदेश दे दिया कि कोई राजा क्यों नहीं आए, द्वार पर आने से पहिले, ठीक तरह से उसका निरीक्षण कर लिया जाए कि उसके पास कोई शस्त्र नहीं है। राजकन्या की सुरक्षा के प्रति पूरी सतर्कता बरती जाए। शालीनता से वार्तालाप करने की क्षमता हो तो ही अन्दर प्रवेश करने देना — अन्यथा नहीं। जैसे ही वह राजा सज—धज के साथ द्वार पर आया तो द्वाररक्षकों ने रोक लिया और कहा कि आपका स्वागत—सत्कार तो बाहर होगा। अभी आप भव्यशीला से बात करने के लिये पधार रहे हैं, तो जिस पोशाक में वह है, वैसी ही पोशाक, आपको अपनानी होगी। आप शालीनता से बात करिएगा। वार्तालाप के दौरान यदि आप दोनों एकमत हो गये तो फिर उसके अनुसार सारी पोशाक सजा सकते हैं। हम बाधक नहीं बनेंगे। परन्तु पहिले वार्तालाप के लिये सादी पोशाक धारण करें। उस राजा ने सोचा कि ये लोग मिलने में बाधक बन रहे हैं, तो क्यों न एक दफा इनकी बात मान लूँ। उसने अपनी राजाशाही आकर्षक पोशाक हटा दी और प्राचीन भारतीयों की पोशाक सजा ली। आपको प्राचीन

के मन में कितना ही विकार भरा हुआ हो, परन्तु जब संतों के पास जाता है तो वह विकार कुछ कम हो ही जाता है। वह सोचता है कि इसका शरीर कृश दिखता है, परन्तु इसकी ललाट तो चमक रही है। इतनी निर्मलता दासी में नहीं आ सकती। आखिर दासी तो दासी ही होती है। दासी का जीवन निर्मलता का जीवन नहीं हो सकता। सदाचारसंपन्न निर्मल भव्यशीला के तेज का उस राजा पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसका विवेक जाग उठा। उसका विकार जाता रहा।

चालाक है। राजकन्या भी बड़ी चालाक निकली कि मुझे बुलाया भी छः महीने बाद और स्वयं नहीं आकर, यहां दासी को खड़ी कर दिया। यह मुझसे बात करना चाहती है। यह मेरे सन्मान के खिलाफ है। राजा ने मेरा अपमान किया है। तब भव्यशीला ने कहा कि आप इसे धोखा नहीं समझिए। आपके मन को धोखा होगा, तो आप मुझको भी अपने घेरे में ले रहे हैं। मैं वही भव्यशीला हूँ। राजा ने कहा कि उस समय तो तुम्हारा रूप दूसरा ही था। राजकन्या ने कहा कि राजन् ! यह शरीर तो नाशवान है। यह बदलता रहता है। निश्चय से, मैं ही भव्यशीला हूँ। राजा ने सोचा कि ऐसे प्रसंग पर कैसे निर्णय करना चाहिये ?

**गमगीन होकर खड़ा सामने, देख न पाता कन्या सामने।
दासी वेष के लार, समता श्रेयकारी।।**

वह राजा गमगीन हो गया। पशोपेश में पड़ गया और चिन्ता के गहरे समुद्र में पहुँच गया। कैसे क्या हो गया ? कैसा षड्यंत्र हो गया ? कैसे विश्वास करूँ कि यही भव्यशीला है ? कृश होते हुए भी उसके तेज से उसके सामने नहीं देख पा रहा हूँ। जिसका आंतरिक जीवन समृद्ध होता है, तो शरीर से भले ही कृश हो, परन्तु उसका तेज नहीं छिप सकता है। कहा भी है कि— “पतिव्रता का फटा लत्ता धन जाका दीदार। कालू कहे किस काम का वेश्या का शंगार।।” भाई पतिव्रता के दीदार की चमक, कुछ और ही होती है। भव्यशीला के मुख पर ऐसा तेज था कि वह राजा उसके तेज को ग्रहण नहीं कर पा रहा है। वह सोचता है कि दासी में इतना तेज नहीं हो सकता है। अतः इस बात की गंभीरता से जांच करनी होगी।

क्या- भोली दिखती.....

निर्मलता का साज.....

आखिर बुद्धि तो उसमें थी ही। उसमें जो विकार था, वह विकार, निर्मल भव्यशीला के पास जाने से शांत हो गया था। मनुष्य

प्रार्थना

धार तरवार नी सोहेली, दोहेली, चौदमा जिण तणी चरण सेवा।
धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवा ना धार पर रहे ना देवा।।
गच्छ ना बहु भेद निहालतां, तत्त्व नी बात करता न लाजे।
उदरभरणादि निजकाज करता थका, मोह नडिया कलिकाल
राजे - धा.।।”

बंधुओ ! आध्यात्मिक जीवन में रमण करने वाली आत्मा, विश्व में अनेक तरह के दृश्य देखती है। इन दृश्यों के बीच में आध्यात्मिक रस का आस्वादन वह भव्य तरीके से कर ले और अन्यो को भी उसके आस्वादन का लाभ लेने दे, यह उस आध्यात्मिक तत्त्ववेत्ता के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। कवि आनन्दघनजी ने आध्यात्मिक जीवन की प्रधानता से, आध्यात्मिक रस में बहते हुए, जिन कविता की कड़ियों का निर्माण किया, उनमें उन्होंने एक चित्र दिया और इस बात की सूचना दी कि आध्यात्मिक बातें करने वाले और आध्यात्मिक बातों को लेकरके और शब्दाडम्बर का सहारा लेकर जिन लोगों ने, अपनी स्वार्थ सिद्धि की कामना आध्यात्मिकता की ओट में पूरी की, उन लोगों के समूह को, उन्होंने गच्छ की संज्ञा दी। गच्छ की संज्ञा देते हुए कहा कि—

गच्छ ना बहुभेद निहालतां, तत्त्व नी बात करता न लाजे।

उदरभरणादि निजकाज करता थका, मोहनडिया कलिकाल राजे।।

जहां नाम तो आध्यात्मिकता का और काम भौतिकता का, ऊपर लेबिल तो आध्यात्मिकता का और भीतर की जीवनचर्या सांसारिक विषय— वासनाओं की ! ऐसे व्यक्ति एकाकी ही नहीं चलते। कभी समूह बनाकर भी चलते हैं। अपने समूह को गच्छ की संज्ञा देते हैं। ऐसे गच्छ, ऐसे समूह सिर्फ उदरपोषण की वृत्ति वाले होते हैं। वे आत्मिक रस को चखने वाले नहीं होते। इसलिये उन्होंने

**विचार शून्य होकर बोला.....
कैसे निर्णय सार, समता श्रेयकारी**

वह विकारशून्य बन गया। मन में अनेक कल्पनाएं आ रही हैं। विचार के ताने—बाने बुन रहा है। वह विचार करके बोला कि, क्या आप ही भव्यशीला हैं ? मैं कैसे मानूं कि आप ही भव्यशीला हैं ? भव्यशीला ने कहा कि इसके लिये मैं कुछ साधना बताती हूँ ! आप निर्णय नहीं कर पा रहे हैं, इसलिये आप अपने अंतःकरण को तटस्थ बनाइये। आपकी जो कुछ भी वृत्ति पहले रही थी, वह इस समय विशुद्धि की तरफ आ गई है। इसलिए आप निर्णय कर सकेंगे। आप इष्टदेव का ध्यान कीजिये। वह राजा इस सती के बचन को टाल नहीं सका। राजा ध्यानस्थ हो गया और सती भी ध्यानस्थ हो गई। आप भी अपने जीवन को इस भव्यशीला की तरह समता के धरातल पर खड़ा कीजिये ! और प्रत्येक बात को अनेकान्त दृष्टि से देखने की चेष्टा कीजिये। सती के पास अनेकान्त के लोचन थे। वह उससे देख रही है। अब आगे कैसे वार्तालाप होता है, यह भविष्य में बताया जायेगा। अभी तो मैं यही कह रहा हूँ कि भगवान की सेवा के लिये विविध क्रियाएं हों, परन्तु समता की भूमिका और अनेकान्त लोचन होने ही चाहिए। ये दोनों नहीं रहते हैं तो कितनी ही द्रव्य क्रियाएं की जाएं, परन्तु वे फल रूप में परिणत होने वाली नहीं हैं।

इत्यलम्

सम्प्रदाय और उसकी आवश्यकता

हैं कि यह मोह की दशा है। यह कलिकाल के अंदर पनपते हैं, पुष्पित और फलित होकर, दुनिया के अंदर, आध्यात्मिक जीवन को बदनाम करते हैं। ऐसी वास्तविक आध्यात्मिक साधना के लिये, समूह की आवश्यकता होती है। वह समूह, सद्विचारों के साथ चले, एक-दूसरे के सद्विचारों को समझ करके, एक-दूसरे के हृदय में रहने वाली सदभावना को उभार कर, उसकी भावना में सिद्धान्त का संचार करे। इस संचार के माध्यम से जनजीवन का नैतिक स्तर ऊँचा उठावे। ऐसी साधना के प्रतीक अनेक व्यक्तियों का समूह भी चलता है, और वह इसी भावना से चलता है कि साधक जब तक परिपूर्ण नहीं बनता है, तब तक उसके जीवन की ऊँची-नीची दशाएँ बनती हैं। उन ऊँची-नीची दशाओं को समझ करके, जीवन में समान भाव लाने वाले और समान भाव की स्थिति को आत्मसात् करने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता है। इसलिये ऐसे समूह को व्युत्पत्ति के अर्थ की दृष्टि से 'संप्रदाय' कहते हैं। 'सं' अर्थात् सम्यक् भाव से, समता भाव से, 'प्रदाय' अर्थात् आदान-प्रदान। समता का लेना-देना करना, समता के स्वरूप को समझना और समता का विकास करके आध्यात्मिक समता की चरम सीमा तक पहुँचना। इस प्रकार का व्यवहार जिस समूह में होता हो, वह संप्रदाय है। संप्रदाय की दृष्टि से, एक समूह बनाकर भी लोग चलते हैं।

बंधुओ ! संप्रदाय शब्द बुरा नहीं है। उसकी व्युत्पत्ति के साथ जो दृष्टि संयोजना है, वह भी समीचीन है। परन्तु जब उसमें सम्यक् आदान-प्रदान की नीति छोड़कर, सिर्फ अहंपूर्ति का पोषण होने लगा, विकारों की वृद्धि होने लगी और लकीर के फकीर बनकर उसी राह से चला जाए, तो वहाँ संप्रदायवाद हो जाता है। यह वाद दुनिया में अशोभनीय गिना जाता है। यदि उसमें संप्रदाय शब्द के अनुरूप, आध्यात्मिक जीवन की समत्व साधना चलती रहे, तो वह संप्रदाय आध्यात्मिक जीवन की साधना के लिये, नैतिक धरातल को ऊँचा उठाने की दृष्टि से, प्रत्येक मानव की उलझनें सुलझाने की स्थिति में, वह आवश्यक भी है। यह बात आज की नहीं, कल की

स्पष्ट रूप से कह दिया कि जब अलग-अलग गच्छ राजनीतिक पार्टियों की तरह बनाकर और आध्यात्मिक जीवन में राजनीति का प्रवेश कराकर कूटनीति का खेल खेला जाता है, तो उनका वह आध्यात्मिक रस सूखने लग जाता है। वे फिर आध्यात्मिक रस के बदले में, निजी स्वार्थ के रस को, स्वयं की तुच्छ भावना को अपनी मान्यता को येन-केन-प्रकारेण जन-मानस में थोपने का प्रयत्न करते हैं। आध्यात्मिक तथ्य की बातें उनके मुँह से निकलती हैं, तो वे बातें शोभास्पद नहीं होतीं। राजनीतिक क्षेत्र में सब तरह की नीतियां चलती हैं क्योंकि उनके पीछे सत्ता प्राप्त करने की भावना होती है। सिंहासन के लिए स्वार्थ की तुच्छ भावना का प्राबल्य होने से वे कई खेल खेल सकते हैं। इन राजनीतिक ग्रुपों में प्रतिदिन गुटबंदियां और तुच्छ स्वार्थ की पार्टियां पनपती रहती हैं। वे पोषण पाती हैं। इन वक्तियों वाले कूटनीतिक ग्रुप को राजनीतिक कहकर, सभ्य जन उनमें भाग कम लेते हैं। उनसे दूर हटने की चेष्टा करते हैं। फिर भी एक बात है कि आम जनता यह जानती है कि यह राजनीतिक प्लेटफॉर्म है। इसमें सब तरह के खेल खेले जा सकते हैं। परन्तु आध्यात्मिक समुदाय के लिये, आध्यात्मिक संस्था के लिये आम जनता का विश्वास है कि यह गच्छ नहीं, परन्तु आध्यात्मिक संगठन है। जिनके जीवन में सत्य, सरलता, निस्पृहता, एक-दूसरे के प्रति हमदर्दी, एक-दूसरे के प्रति स्नेह का व्यवहार है और कदाचित् किसी की पलायन जैसी परिस्थिति हो भी जाए, तो भी वे उसको सरलतापूर्वक, इस आध्यात्मिक संस्था के साथ जोड़कर, समाहित करने की चेष्टा करते हैं। यह आध्यात्मिक समूह का विशेष कर्तव्य हुआ करता है। परन्तु जहाँ आध्यात्मिकता के नाम से, चाहे धर्म के नाम से, समूह बनाकर चला जाए और उसमें सरलता का अभाव हो, दुर्गुणों का पोषण हो, एक-दूसरे में उखाड़-पछाड़ करने की वृत्ति हो, भाईचारे की भावना नष्ट हो जाती हो, स्वधर्मी वात्सल्यता का प्रेम बालू रेत की तरह सूख जाता हो, तो ऐसे गच्छ को, ऐसे समूह को कवि आनन्दघनजी ठीक नहीं समझते हैं। वे यही कह रहे

आचार्य एवं चतुर्विध संघ द्वारा मिलकर उन्हें आचार्यपद की विधिवत् चद्दर ओढ़ाकर घोषणा की जाये कि हमारे पूर्व के आचार्य पाट पर ये आचार्य हैं। पूर्व के आचार्य भी चतुर्विध संघ को संदेश के रूप में आज्ञा दें कि चतुर्विध संघ इनकी आज्ञा का पालन करेगा।

आध्यात्मिक जीवन की साधना एक दृष्टि से देखी जाए तो, सात्त्विक गुरु के बिना नहीं हो सकती है। बिना सात्त्विक गुरु के आध्यात्मिक साधना भी नहीं सध सकती क्योंकि बहुत खतरे आ सकते हैं। अल्प सामर्थ्य वाले व्यक्तियों को सता सकते हैं जो इस संघ में हैं और नियमों का पालन करते हैं। अतः सद्गुरु की आवश्यकता रहती है। सद्गुरु के बिना साधना नहीं बन पाती। क्योंकि यह धार्मिक संघ है और संसार में बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। धार्मिक संघ में किसको प्रवेश देना और किसको नहीं देना, इसका ठीक परीक्षण सद्गुरु ही कर सकते हैं। संसार में यह देखा जाता है कि समाज व राजनीतिक आदि संघों में विधिवत् किसी को प्रवेश कराना होता है, तो समाज व राजनीतिक योग्य नेता के परीक्षणपूर्वक ही प्रवेश दिया जाता है। बिना परीक्षण के वहाँ भी प्रवेश नहीं होता। तो धार्मिक क्षेत्र में प्रवेश बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अतः उसका प्रवेश सद्गुरु के माध्यम से हो, वही संघ एवं व्यक्ति के लिये हितकर होता है। साधना के लिए भी योग्य साधियों के समूह की आवश्यकता रहती है। इसके बिना साधना ठीक तरीके से नहीं कर सकता। वह योग्य व्यक्तियों का समूह संघ की संज्ञा पाता है। और उसी संघ के सर्वमान्य नेता धार्मिक क्षेत्र में सद्गुरु कहलाते हैं। वह संघ भी संप्रदाय कहलाता है। पर वह संघ, संघ में प्रवेश पाने वाले सदस्यों की साधना एवं साधकों के जीवन को सुरक्षित रखने वाला होता है। अतः वह धार्मिक संप्रदाय सर्वजनहिताय होता है। ऐसे तो नैतिकता के नाम से, सामाजिकता के नाम से एवं राजनीतिक दान के नाम से जितने भी समूह एवं पार्टियां बनती हैं, वे भी संप्रदाय कहलाती हैं। पर उनमें और इनमें रात-दिन का अन्तर है। वास्तविक धार्मिक संघ में, स्व-पर जीवन-निर्माण व जगत् कल्याण की भावना

नहीं अपितु जब हम पूर्व की स्थिति को देखते हैं तो ऐतिहासिक पष्ठों के साथ उसका संबंध जोड़ते हैं। इससे भी यह बात स्पष्ट ज्ञात हो जाती है। आगमिक शास्त्रों के पष्ठों से भी यह बात स्पष्ट हो रही है। हमारे परम आराध्यदेव तीर्थंकर परमात्मा क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए। उन्होंने अपने क्षात्रधर्म का निर्वाह भी किया, राजकुल में उत्पन्न होने से शासन का भार भी संभाला और अन्ततः सांसारिक राज-वैभव को टुकरा कर, संयम को अंगीकार करके, अध्यात्म के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचे। अपने प्रबल पुरुषार्थ से केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर, जगज्जीवों के कल्याण के लिए तीर्थ स्थापित कर तीर्थंकर बने। साधना-काल में तीर्थंकर अकेले रहते हैं, उन्हें किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती। परन्तु सब में ऐसा सामर्थ्य नहीं होता। इसी को लक्ष्य में रखकर प्रभु ने तीर्थ की स्थापना की ताकि उस तीर्थ की सहायता से भव्य प्राणी भवसागर से पार हो सकें। उस तीर्थ में साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के समुदाय को सम्मिलित कर उसे चतुर्विध संघ की संज्ञा दी। यह चतुर्विध संघ एक आध्यात्मिक संगठन के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इससे संघ की परम्परा चली। वही परंपरा संप्रदायों के रूप में आगे चली। चतुर्विध संघ एक संगठन है। इसका संघपति होना आवश्यक है। क्योंकि उसके बिना संघ सुचारु रूप से नहीं चल सकता। संघपति भी सर्वमान्य और गंभीर, प्रसिद्ध होना चाहिए ताकि आम जनता उन्हें समझ सके, उसके आदेशानुसार संघ व्यवस्था चल सके। क्योंकि सब तरह के साधक होते हैं और उनमें अपूर्णता के कारण, विधि-विधान में भी त्रुटि हो सकती है अर्थात् उसकी पालना में कमी आ सकती है। उसको सावधानी दिलाने वाला चाहिये और वह सावधानी दिलाने वाला, सर्वमान्य संघपति ही होता है। कदाचित् दो साधुओं में विवाद छिड़ जाये, तो उसका निर्णय भी संघपति (आचार्य) ही करते हैं।

कई ज्ञानीजन भी सर्वमान्य समाधान चाहें तो उनका समाधान भी सर्वमान्य नेता ही कर सकता है। उसी का समाधान सर्वमान्य हो सकता है। नेता सर्वमान्य तभी बन सकता है जबकि पूर्व के

तरह चमकती रहे। निर्ग्रन्थ संस्कृति, संप्रदाय में चमकती रहे। बल्ब में जैसे स्वच्छता ज्ञात होती है और स्वच्छता के कारण कोई भी उस पर धब्बा पड़ता है, तो मालूम हो जाता है, इसी तरह साधु जीवन स्फटिक कांच के समान हो। और उसमें कभी पूर्वजन्म के उदय से या किसी व्यक्ति-विशेष के कारण वातावरण से कोई मलीनता आ जाए तो उसको झट साफ कर दिया जाये। आपने कभी बल्ब को साफ किया है ? पहले जमाने में लालटेन जलती थीं, तो कांच का ऊपर आवरण होता था। जब-कभी धुएं के कारण आवरण मलीन हो जाता था, तो उसे खोलकर मांजते थे। और स्वच्छ बनाकर पुनः लगा देते थे। जिससे वह ठीक तरीके से प्रकाश दे सके। इसी तरह मन रूपी शीशे को मांजकर अर्थात् चित्तवृत्तियों का संशोधन कर आध्यात्मिक जीवन की साधना करने लग जाय तो आध्यात्मिक ज्योति का भव्य प्रकाश पा सकता है। इस प्रकार चतुर्विध संघ के प्रति वफादार है। संघ में ऐसी प्रवृत्ति होनी चाहिए। यह पद्धति आध्यात्मिक ज्योति जगाने वाली है। कर्म के उदय से खराबी और मैलापन आ जाए तो मांज लेना चाहिए। इन भावनाओं के साथ संप्रदायों को साधना में सहायक मानकर चलना चाहिए। आनन्दघनजी ने बताया कि इस प्रकार निर्मलता से चलने वाले संप्रदाय ठीक हैं।

संप्रदायवाद सब जगह नहीं होता। मनुष्य-मनुष्य में अंतर है। संप्रदाय-संप्रदाय में भी अंतर होता है। व्यवहार की दृष्टि से महाभारत के युद्ध में कौरव और पांडव दोनों लड़े। दोनों लड़े तो सही, परन्तु किस दृष्टि से लड़े ? राम और रावण भी किसलिये लड़े ? राम और रावण की स्थिति क्या थी ? जब तक इसका विश्लेषण तटस्थ भाव से नहीं करते हैं, तब तक सही निष्कर्ष नहीं निकाल सकते हैं और दोनों को एक कटघरे में खड़ा कर देते हैं। कुछ लोग, संप्रदायों की बात चलती है तो उसके लिये कुछ का कुछ बोल उठते हैं, और कहते हैं ये सब बुरे हैं। राम और रावण क्या दोनों बुरे थे ? बुरे की स्थिति कहां है ? राम नहीं चाहते थे कि रावण

होती है। अन्य संप्रदायों में इससे भिन्न भावना भी हो सकती है।

संप्रदाय बुरा नहीं है, परन्तु उसमें जो बुराई आ जाती है वह बुरी है। हमारे संप्रदाय का व्यक्ति कितना ही दुराचार, अनाचार करे, बुरा हो, तब भी संप्रदाय का है, इसलिये उसको सहयोग दिया जाए और दूसरे का कितना भी ठीक हो, परन्तु हमारे संप्रदाय का नहीं है, तो उसको ध्वजा पर चढ़ा दिया जाए — ऐसी भावना अगर हो तो वहां संप्रदायवाद का घणित रूप सामने आ सकता है। आज राजनीति में भी नारे लगाए जाते हैं। कितने ही अच्छे नारे लगाए जायें परन्तु उनमें सात्त्विक जीवन को तिलांजलि देकर अन्याय को प्रश्रय दिया जाये तो उसको मानना योग्य नहीं है। परन्तु जो सन्मार्ग पर चलने वाले संप्रदाय हैं, उनको भी उस श्रेणी में रखा जाये तो ठीक नहीं है।

गुरु के बिना संघ की साधना नहीं हो सकती है। आप जानते हैं कि यह शरीर भी पांच इन्द्रियों का एक समूह है। यह भी संघ है, संप्रदाय है। तो इसमें भी व्यवस्था है। इस पर भी नियंता है जो नेतृत्व करता है, शरीर की बराबर सुव्यवस्था रखता है और शरीर का संचालन करता है। परिवार भी संप्रदाय है। जो नाना प्रकार के गुट बनते जाते हैं, वे भी संप्रदाय हैं। उनकी भी नीतियां हैं। बिजली बह रही है। पानी में बिजली है। तत्त्व में बिजली है। यह वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में रही हुई है। प्रकाश उत्पन्न होता है, वह घेरे में है। तो पॉवर हाउस भी घेरा है। वह घेरा किसी को ठगने के लिये नहीं। वह घेरा बिजली उत्पन्न करने, रोशनी देने के लिये है। घेरे में बिजली ली जाती है। तो बल्ब स्वच्छ हो, तो बटन दबाने पर प्रकाश ज्योति देगा। और अंधकार में मार्गदर्शन देगा। और बल्ब ठीक नहीं हैं, स्वच्छ नहीं है तो रोशनी नहीं देगा। तो घेरा भी होना चाहिए और वह स्वच्छ भी होना चाहिए। परन्तु जैसे स्वच्छ घेरे में प्रकाश होता है, वैसे ही आध्यात्मिक प्रकाश बल्ब के समान स्वच्छ भी स्वच्छ वातावरण में होता है।

संप्रदाय की आवश्यकता है। वह संप्रदाय स्वच्छ बल्ब की

लेना पड़ा। पर उद्देश्य उनका किसी को मारना नहीं था। दुनिया की दृष्टि में तो यही आया कि राम भी लड़े और रावण भी लड़ा।

राम और रावण का युद्ध नीति और अनीति का युद्ध था। रावण अनीति का प्रतीक था और राम नीति के प्रतीक थे। अनीति के विरुद्ध लड़ने के कारण राम जन-जन की श्रद्धा के पात्र बने जबकि रावण युग-युग तक निन्दा का पात्र बना।

आप भी एक सम्प्रदाय में हैं, तो आपका दायित्व हो जाता है कि आप नीति मार्ग को अपनाते हुए, अध्यात्म की ओर बढ़ें। आज जो अनीतिमय वातावरण फैल रहा है, उसके विरुद्ध आप सशक्त, नीतिमय और रचनात्मक पुरुषार्थ कर, शुद्ध वातावरण पैदा कर सकते हैं।

चारित्र

समता श्रेयकारी, तू ले जीवन में धार।

किसी तरह की नहीं वंचता, निर्भय होकर करो वार्ता।

शंका सभी निवार, समता श्रेयकारी।।

आप महिला वर्ग को किस दृष्टि से देखते हैं ? आपका दृष्टिकोण क्या है ? आज पुरुष वर्ग में एक ऐसी तुच्छ भावना पैदा हो गई है। पुरुष वर्ग ने महिला वर्ग को एक ही फतवा दे दिया है कि यह अबला है और नारी जाति ऐसी ही है। परन्तु उसके गुणों का, उसके जीवन का, उसकी वक्तियों का, सही मायने में मूल्यांकन नहीं किया जाता। जिस नारी जाति के लिये आम जनता ने यह दृष्टिकोण बनाया, तो उसको परिमार्जित करने के लिए यह नारी आपके सामने आ रही है।

भव्यशीला, राजकन्या थी। उसने चिन्तन किया कि मेरे इस भौतिक पिण्ड में आसक्त रहने वाला, अनीति और अत्याचार का भी आश्रय लेने वाला राजाओं का समूह है। यद्यपि राजाओं का भी

की लंका लूटें। वे आक्रमण करना नहीं चाहते थे। राम चाहते थे कि नीति का पालन हो। क्या उन्हें राज्य का लोभ था ? यदि राज्य का लोभ होता तो अयोध्या छोड़कर नहीं जाते। यदि राम स्वेच्छा से वन में जाना नहीं चाहते, तो कैकेयी के हजार चाहने पर भी, वह उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती थी। वे राज्य सिंहासन पर बैठ सकते थे। रघुकुल की परंपरा में बड़ा लड़का राज्य का अधिकारी होता है। परन्तु राम राज्य नहीं चाहते थे। वे वनवास में चले गए। वे लंका का राज्य भी नहीं चाहते थे, उन्हें उसका लोभ भी नहीं था। वैभव की आकांक्षा नहीं थी। राम तो तटस्थ भाव से चल रहे थे। वे तटस्थ भाव से सोच रहे थे कि कैकेयी माता की भावना के अनुसार मेरा छोटा भाई राज्य करे तो अच्छा ही है। कैकेयी माता ने जो-कुछ कहा, वह ठीक ही है। मेरा भाई मेरी उपस्थिति में राज्य नहीं कर पाएगा। इसलिये मुझे अयोध्या छोड़कर अरण्य में चला जाना चाहिए। वे वन में चले गए। राम, लक्ष्मण, सीता वनवास कर रहे थे। इस दौरान रावण ने अत्याचार किया। रावण सीता का अपहरण करके ले गया। तो राम ने सोचा कि यदि मैं अन्याय, अत्याचार का विरोध और प्रतिकार नहीं करूँगा तो अनीति और अत्याचार को प्रश्रय मिलेगा। जो न्याय-नीति पर चलने वाले हैं, उनमें निराशा छा जाएगी। नीति की रक्षा हो, इसलिये अनीति का प्रतिकार करना चाहिये। उन्हें नैतिकता की रक्षा करनी थी। नैतिकता के बिना आध्यात्मिकता नहीं पनप सकती। अन्त में रावण को ही बुरा कहा गया।

रावण प्रारम्भ में अनैतिक नहीं था, पर जब उसकी नैतिकता में परिवर्तन आया तो अनैतिक बना। राम की महारानी सीता को उठाकर ले गया, यह बहुत बड़ी अनैतिकता हुई। यह सिर्फ सीता का प्रश्न नहीं था, समग्र नारी जाति पर अत्याचार का प्रश्न था। राम सोचने लगे, मेरे सरीखा शक्तिसंपन्न भी इस नीति का प्रतिकार नहीं कर सका, तो नैतिकता के साथ-साथ धर्म का भी हास होगा। अतः नैतिक जीवन के साथ-साथ धार्मिक जीवन की भी सुव्यवस्था रहे, एतदर्थ उनको अन्य सब नीतियों के विफल होने पर युद्ध का सहारा

लुक—छिप कर मिला जाए। मैं जीवन की नीति को जानती हूँ। मैंने इस घर में जन्म लिया है। यहां ऐसी वंचना होती तो मेरा जीवन उभर नहीं पाता। बचपन में परिवार के सदस्यों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। वे यदि धोखा, वंचना करते हैं, तो बच्चे भी सीख जाते हैं। मुझे यहां रहते हुए, ये बातें सीखने का प्रसंग नहीं आया। मैं तरुणाई में पहुँचकर भी वैसी ही रही। आप खुले दिल से वार्ता करें। आप शंकाशीलता से रहित होइए।

**सब ही पाई पुष्ट प्रामाणिकता, राजकन्या का निश्चय होता।
करता है विचार - समता श्रेयकारी।।**

राजा ने भव्यशीला के वचन सुने। आखिर हृदय के विचार हृदय तक पहुँचते हैं। मस्तिष्क की कला, मस्तिष्क तक पहुँचती है। आंतरिक भावना का प्रभाव, अंतर को छुए बिना नहीं रहता है। राजा के मन में, जो शंकाएँ थीं, उनका निराकरण, उनका उन्मूलन भव्यशीला के वचनों ने कर दिया। राजा ने सोचा कि मैं व्यर्थ ही शंका कर रहा हूँ। मैं इसके शरीर की कृशता को देख कर शंकाशील हो गया। परन्तु कृशता कई कारणों से हो सकती है। मैं इसी से खुलासा क्यों नहीं कर लूँ ! अन्य प्रमाणों से भी इसकी पुष्टि हो रही है। यही भव्यशीला है। अन्य नहीं। उसने पूछा कि भव्यशीले ! यह तुम्हारा शरीर कृश कैसे बना ? इसके प्रति तुमने लापरवाही क्यों की, जिससे पूरा शरीर ही सूख गया ? भव्यशीला ने कहा—

**इसकी चिंता आप न करिए, आप अपना विचार रखिए।
करिए योग्य विचार। समता श्रेयकारी।।**

राजन् ! आप मेरे शरीर की तरफ ध्यान मत दीजिये। यह तो पुद्गलों का पिण्ड है। यह पांच इन्द्रियों का समूह है। यह भौतिक तत्त्वों का पिण्ड है। इसमें कभी हास और विकास होता रहता है। चय—अपचय होता रहता है। व्यक्ति, सब तरह की पौष्टिक सामग्री रहते हुए भी कृश बन जाता है। इस विषय में चिंतन मत कीजिए।

भूपति—मंडल होता है, परन्तु उसका उद्देश्य देश की सुरक्षा और प्रजा का नीतिपूर्वक पालन करना होना चाहिए। यहां जो राजाओं का मण्डल है, वह इस उद्देश्य को भूलकर, वासना की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील है। उसको सही मार्ग पर लाने के लिए एक राजकन्या बहुत बड़ा साहस कर रही है। सुख—सुविधा और भोग—विलास के सब साधन उपस्थित होने पर भी, सादगीमय जीवन से सामाजिक धरातल पर समता का आदर्श उपस्थित कर रही है। वह अपना विवाह वैभव—प्रदर्शन और आडम्बर के बिना, सादगी से करने की इच्छुक है। ऐसा करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये हितकारी है। विशेष तौर से जो मध्यमवर्गीय है, जो दबा हुआ है और जो इस आडम्बर की पूर्ति नहीं कर सकता है, उसे इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए। समाज में समरसता पैदा करने के लिए सादगीमय रीति—रिवाज हों, यह जरूरी है।

भव्यशीला सोच रही है कि ये राजा लोग मुझे पाने के लिये अधीर हो रहे हैं। संभव है कि ये मुझे पाने के लिए बल का प्रयोग भी करें। ऐसी स्थिति में मुझे अपने आत्मबल से ही इस संकट से पार होना है। अपनी आत्मिक और नैतिक शक्ति से ही मुझे इसका प्रतिकार करना चाहिए। अपने विचार के अनुसार उसने योजना बनाई। उसने अपने—आप की वक्तियों का परिमार्जन किया। छः महीने तक आयंबिल तप किया। उसके बाद राजा को निमंत्रण दिया। वह भी पहुँच गया। पहुँचने का प्रकरण, मैं कल आपके सामने रख गया था। वह भव्यशीला के साथ वार्तालाप करना चाहता है। परन्तु शंकाशील बना हुआ है कि यह वही भव्यशीला है या अन्य दासी है ? इसमें कोई धोखा तो नहीं ? जिसके मन में धोखा होता है, तो वह हरेक व्यक्ति में धोखा ही देखने की चेष्टा करता है। भव्यशीला ने कहा कि आप यहाँ कोई राजनीति—कूटनीति नहीं समझें। धोखे की बात नहीं समझें। यद्यपि यह राजघराना है, राजभवन है। राज नाम से ही हरेक का मस्तिष्क चकरा जाए, यह संभव है। परन्तु राजन् ! यह नहीं समझें कि इस राजभवन में

आपके स्वास्थ्य के लिये बोलना है, कि आप शरीर से पुष्ट हैं परन्तु मन आपका कमजोर है। आप रोगी हैं, मन के। आप रोग का निवारण करके, स्वस्थ और पुष्ट बनिए। शरीर की तरह मन को भी पवित्र बना लीजिए। आप बड़े राजा हैं, भूपति—मण्डल के सदस्य हैं और उसमें भी आप अगुआ कहलाते हैं। आपको अपने मन से सबसे पहिले अनैतिकता को हटाना है। मन में नैतिक बल भरकर, नैतिकता की दृष्टि से आप स्वस्थ बन जाइए और फिर उस नीति पर बलपूर्वक आप बोलिए। मैं आपका समाधान करूँगी।

नीति धर्म सब मम रक्षण में, नारी रत्न भी उन्हीं साथ में

क्या करती विचार, समता श्रेयकारी।।

वह राजा प्रथम तो हंसता है और हंसता हुआ कहने लगा—वाह ! वाह !! तुम मुझे बोध दे रही हो ! छोटे मुंह बड़ी बात कर रही हो ! तुम जानती हो कि मैं कौन हूँ ? मैं भूपति हूँ, मैं पृथ्वीपति हूँ। तुम मुझे शिक्षा दे रही हो कि तुम नैतिकता से अपने मन को भरो। तुमने मुझे अभी तक समझा नहीं है। देखो ! नीति और धर्म, ये सारे के सारे मेरे चरणों में हैं। नीति और धर्म, मैं अपने चरणों में लेकर चलता हूँ। पैरों के नीचे दबाकर चलता हूँ। तुम अपने—आपको नारी—रत्न समझकर गर्व का अनुभव करती होओगी। परन्तु मैं, ऐसे नारी—रत्नों को पांव की जूतियों के समान मानता हूँ। पुरुषों की तुलना में नारियां कहीं नहीं टिकती। इसलिए अपनी सीमा में टिककर ही मुझसे बात करो। मुझे तुम्हारे उपदेश की आवश्यकता नहीं है।

**मदीय छाया संग वे भी रहती, मेरे साथ मैं पीछे भागती।
बोल न सके विचार, समता श्रेयकारी।।**

देखो ! मैं तुम्हारा अदब कर रहा हूँ और सोच रहा हूँ कि इसका बचपन का स्वभाव है। थोड़ी देर के लिये, जो कहे सो कर

आप तो अपने विचार दिल खोलकर रखिए। आप जिस उद्देश्य से यहाँ पहुँचे हैं, वह वार्ता कीजिए।

भूपति कहने लगा कि देखिए ! भव्यशीला ! मैं आप से बातचीत तो करना चाहता हूँ। परन्तु पहिले आप स्वास्थ्य को अच्छा बना लीजिए ! स्वस्थ शरीर के साथ, मन की स्वस्थता रही हुई है। उसी स्वस्थ मन से, मैं आपके साथ बात करना चाहता हूँ। तो भव्यशीला ने कहा, राजन् ! मैं अपने—आप में स्वस्थ हूँ। शरीर की कृशता से आप अनुमान कर रहे हैं कि मैं रोगग्रस्त हूँ या मेरी मनोवृत्ति ठीक तरह से काम नहीं कर रही है। परन्तु मेरा मन, शरीर की कृशता होने पर भी अच्छा अनुभव कर रहा है। मेरा मन शरीर की कृशता के कारण अस्वस्थ नहीं है। वह निर्मल और पुष्ट बन गया है। मेरे मस्तिष्क में समता की धारा समान रूप से बह रही है। इसलिए आप मेरे स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य की बात नहीं करके, अपनी बात रखें। उसने कहा—

**प्रजा पालक आप कहलायें, नीतिबल को मन में लाये।
करना फिर भी काज, समता श्रेयकारी।**

राजन् ! आप जिस उद्देश्य से आए हैं, उस उद्देश्य को वाणी के माध्यम से प्रकट नहीं कर पा रहे हैं। प्रकारान्तर से आप अन्य—अन्य बातें कह रहे हैं। आप तंदुरुस्ती की बात को लेकर वार्ता कर रहे हैं। राजन् ! आप हृदय की सरलता से अपने भाव रखिए। स्पष्ट बोलिए कि आप क्या करना चाहते हैं ? उसने कहा—भव्यशीले ! मैं जो कहना चाहता हूँ वह विषय क्या तुम्हारे से छिपा हुआ है ? यह विषय क्या कोई लुकाव की दृष्टि से है ? भव्यशीला कहने लगी, नहीं ! मेरे मस्तिष्क से यह विषय ओझल नहीं है। मैं समझ रही हूँ कि आपके मुंह से वे शब्द उच्चरित नहीं हो रहे हैं परन्तु आपकी आकृति, आपका व्यवहार और आप जिस ढंग से यहां पहुँचे हैं, वह सब बर्ताव मुझे बतला रहा है, कि आप उस उद्देश्य से क्या कहना चाहते हैं ? आपके भाव प्रबल हैं। मुझे आपको संबोधन देना है। आप मेरे स्वास्थ्य की दृष्टि से बोल रहे हैं। परन्तु मुझे भी

प्रस्ताव करें, तो क्या आप जूतियों के नहीं हो जायेंगे ? आप उसके साथी हो जायेंगे। आप जरा होश में आइए, और संभलकर बोलिए। किसी का तिरस्कार करना, अपमान करना — यह इन्सानियत की दृष्टि से ठीक नहीं है। वहां नीति और धर्म के लिये तो स्थान ही नहीं है। आप इष्टदेव का स्मरण कीजिये और फिर बोलिए। उसके वचन दिल हिलाने वाले हो गए। राजा का दिल हिल गया और उसने दुःख व्यक्त किया कि मैंने ऐसे शब्द कह दिये। कोई शादी करने के लिये जाता है, तो क्या एक को ऊँचा और एक को नीचा समझ कर जाता है ? आप इन बहिनों को लुभावने नारे देते होंगे। परन्तु जब संबंध जोड़ने जाते हैं, तो कहाँ समानता का व्यवहार किया जाता है। वहां बराबरी का समझ बात की जाती है तो पैसे की मांगनी नहीं होती, परन्तु नोट-पैसों को तो सिर पर चढा दिया। परन्तु नारी जाति के साथ समानता का व्यवहार नहीं किया। कइयों का अंतर्-मानस इस भूपति मानस के तुल्य तो नहीं है ? विकारी तो नहीं है ? बुद्धिमानों को क्या कहना ! वे स्वयं समझें। मेरी माताएं अपने-आप को हीन समझकर चल रही हैं। परन्तु इनमें यदि आत्मबल आ जाए और भव्यशीला के रूप में इनका जीवन ऊँचा उठ जाए तो थोड़े दिनों में इन पुरुषों का मानस तंदुरुस्त हो जाए, सबल हो जाये। इन माताओं का मनोबल भव्यशीला की तरह तंदुरुस्त बन जाए; त्याग के प्रति मस्त बन जाए और कह दें कि हम पुरुषों के पीछे भागती नहीं हैं। हमारा भी कुछ गौरव है। हमारा जीवन चारित्रनिष्ठा की तरफ लगेगा। अब आपको भव्यशीला के चरित्र से प्रेरणा लेनी है। आप अपनी शक्ति को बढ़ाने की चेष्टा करें। उसमें नैतिकता का बल आना चाहिए। इस प्रकार आपका जीवन चलेगा तो आपका जीवन मंगलमय होगा।

लेना चाहिये। तुम्हारी बात को मानकर, मैं सादी पोशाक में तुम्हारे पास आया। इसका मतलब यह नहीं कि मैं तुम्हारी गुलामी करने आया हूँ। तुमको मेरी छाया के पीछे-पीछे आना पड़ेगा। मैं भूपति-मण्डल का अगुआ हूँ। इस प्रकार के अभिमानपूर्ण शब्दों के साथ और नारी जाति के अपमानसूचक शब्दों के साथ, जब वह भव्यशीला के सामने पेश आया, तो भव्यशीला इन बातों को गंभीरता से सुन रही थी। ऐसे शब्दों को सुनने के बाद साधारणतया किसी का भी धैर्य टूट सकता है, वह उत्तेजित हो जाता है। परन्तु भव्यशीला सोच रही है कि मैंने अपने जीवन में जिस समता को स्थान दिया है और जिस समता के धरातल को मैंने छुआ है, उसके आधार पर, मुझे उत्तेजित नहीं होना है। इन्होंने जो शब्द कहे हैं, इससे नारी जाति की बहुत अवज्ञा हुई है। नारी जाति को इसने बहुत तिरस्कृत किया है। ऐसा करके यह कैसे नारियों की आकांक्षा रख सकता है। यह तो “वदतो व्याघात” अपने मुंह से ही अपना खंडन कर रहा है। जैसे मेरी मां बांझ है — वंध्या है। अरे भाई ! मेरी मां वंध्या है। यदि ऐसा वह कहता है, तो वह पुत्र किसका है ? तो अपनी वाणी से ही, अपना खंडन हो गया। एक तरफ तो यह नारी रत्न की उपमा दे रहा है, और दूसरी तरफ नारी जाति का अपमान कर रहा है। भव्यशीला ने इस पर बहुत गहराई से चिन्तन किया और सोचा कि अभी तो राजा को नम्रता के साथ समझने की चेष्टा करनी चाहिये। वह उत्तेजना में नहीं आकर, कहने लगी कि राजन् ! आपने जिन शब्दों का प्रयोग किया है, उन पर भी जरा चिन्तन कीजिये ! क्या ये शब्द आपके लिये शोभास्पद हैं ? क्या ये उस भूपतियों के अगुआ के लिये आपत्तिजनक नहीं हैं ? आप कह रहे हैं कि मैं धर्म और नीति को जूतियों में रखता हूँ और नारी को भी उसी तरह रखता हूँ। तो जिस नारी को अपनी जूतियों के बीच रखना चाहते हैं, ऐसी नारी के साथ आप शादी करने का

को आच्छादित करता है। अतः उसका प्रभाव आत्मा पर परिलक्षित होता है। कर्मों के कारण ही आत्मा में मलिनता आती है। ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान को ढक देता है। अतः आत्मा पर उसका प्रभाव दिखता है शरीर पर नहीं।

आत्मप्रदेशों में कर्मों की कालिमा रही हुई है। और वे ही कर्म जब उन आत्मप्रदेशों में रहते हुए, फल के रूप में प्रकट होते हैं, तो आत्मा की वह पवित्र दशा, उस कर्म के अनुरूप ढल जाती है और वह सही मायने में अपने स्वरूप को पहिचान नहीं पाता। परिणामस्वरूप उसके समक्ष संसार के रंग—बिरंगे दृश्य ही आते हैं। उन दृश्यों में वह उलझ जाता है। उन दृश्यों को देखकर वह कुछ लगाव की स्थिति में पहुँचता है। अमुक पदार्थ अच्छे लग रहे हैं और अमुक पदार्थ अच्छे नहीं हैं। जिसको वह पसंद करता है, उसमें उसकी आसक्ति बन जाती है। और जिसको पसंद नहीं करता है, उसमें उसकी विद्वेष की भावना बन जाती है। परिणामस्वरूप दोनों में संघर्ष छिड़ जाता है। राग की भावना, आसक्ति की भावना अंतश्चेतना में पहुँचती है। वैसे ही अनिष्ट के प्रति विद्वेष की भावना भी उत्पन्न हो जाती है।

राग और द्वेष, ये दोनों ही वस्तियाँ इस आत्मा को अपने सही स्वरूप से विलग कर देती हैं। आत्मा का सही भान नहीं हो पाता। जब आत्मा के सही स्वरूप की पहिचान नहीं होती तो आत्मा के पवित्र स्वरूप का विज्ञान भी नहीं होता। उसके बिना परिपूर्ण सत्य का उद्घाटन नहीं होता। इस दृष्टि से चिन्तन किया जाएगा, तो यही फलित होगा कि मनुष्य की जो अनुभूति अंदर में रही हुई है वहीं कर्मों का कल्मष भी रहा हुआ है। अंदर की सफाई जब तक परिपूर्ण रूप से नहीं होती तब तक सत्य का परिपूर्ण स्वरूप सामने नहीं आता, जैसे बादल सूर्य के प्रकाश को ढांकते हैं। ज्यों—ज्यों बादल घने होते जाते हैं त्यों—त्यों सूर्य का प्रकाश मंद—मंद होता जाता है। वैसे ही प्रबल ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव से आत्मा का

इत्यलम्

भगवान की वाणी और अनेकान्त दृष्टि

प्रार्थना

धार तरवार नी सोहेली, दोहेली, चौदमां जिण तणी चरण सेवा।
धार पर नाचतां देख बाजीगरा, सेवानां धार पर रहे न देवा।।
वचन निरपेक्ष व्यवहार झूठो कह्यो, वचन सापेक्ष व्यवहार सांचो।
वचन निरपेक्ष व्यवहार संसार फल, सांभली आदरी कांई राचो।।

बन्धुओ ! वीतराग तीर्थकर देव ने केवलज्ञान—केवलदर्शन द्वारा संसार के यथार्थ स्वरूप को जानकर अपनी अमोघ वाणी द्वारा जगत् के कल्याण के लिए वचनामत की निर्मल धारा प्रवाहित की। संसार के सत्य को समझने के लिए उन्होंने माध्यम भी वैसे ही बताया। समग्र सत्य को व्यक्ति पूरा समझ नहीं पाता। जब तक सत्य का परिपूर्ण रूप समझ में नहीं आता, तब तक व्यक्ति उसे अपने जीवन में परिपूर्ण स्थान नहीं दे सकता है। सत्य को दो तरह से समझा जा सकता है। एक तो वाणी के माध्यम से और दूसरा अंदर की अनुभूति से। अंदर की अनुभूति, अंदर का अनुभव जितना निर्मल और पवित्र बनता हुआ चला जाएगा उतना ही वह सत्य की मंजिल को पार करके परिपूर्ण सत्य तक पहुँच जाएगा। जिस दिन परिपूर्ण सत्य की अवस्था पा लेगा, उसी दिन तीर्थकर देव के तुल्य, परम पद को पा लेगा। परन्तु परिपूर्ण सत्य को पा लेना, हर किसी व्यक्ति के बूते की बात नहीं है। अपूर्ण व्यक्ति इस सत्य को समझने में, अनुभूति के सहारे चलने में, समर्थ नहीं होता। क्योंकि उसका ज्ञान आवरणों से आच्छादित रहता है। कर्मों का आवरण आत्मप्रदेशों

अखंड रहेगा। परन्तु यह तभी बन सकता है, जबकि शरीर बलिष्ठ हो। गजसुकुमाल मुनि, शरीर की दृष्टि से कोमल थे, परन्तु बलिष्ठ थे 'यानी वज्र ऋषभ नाराच संहनन वाले थे। सोमिल के डाले गये खेर के धधकते हुए अंगारे भी उनके ध्यान को खंडित न कर सके। वे अडोल अवस्था में रहे। उनकी जो मन की स्थिति मजबूत रही, वह शरीर के बल के आधार पर रही। और शरीर का बल मजबूत नहीं होता और आज जैसा होता, तो गजसुकुमाल उस अवस्था में परिपूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकते थे। शरीर-बल भी इस परिपूर्ण साधना में सहायक है। कहने का तात्पर्य है कि कमजोर शरीर परिपूर्ण साधना करने में समर्थ नहीं है। आज के मानव का शरीर कमजोर बनता हुआ चला जा रहा है और बनाया जा रहा है। जितने-जितने भौतिक साधन उपलब्ध हो रहे हैं, उतनी-उतनी मात्रा में मनुष्य शारीरिक दृष्टि से पंगु बनता जा रहा है। वाहन आदि के साधन पहिले नहीं थे तो यात्रा के लिये मनुष्य पैरों से चलता था। शहर का परिभ्रमण भी पैरों से करता था। उस समय शरीर भी मजबूत था। और उनका मन भी सुदृढ़ था, आज की अपेक्षा से। परन्तु आज शारीरिक अवस्था दिन-प्रतिदिन गिरती जा रही है। वह भले ही साधना के लिए बैठ जाए परन्तु साधना की दृढ़ता, जो मन से बननी चाहिए, वह नहीं बन पाती है। और मन की दृढ़ता नहीं बनती है, तो अंदर के विकारों को धोने में वह समर्थ नहीं होती है। अंदर के विकारों को निकालने में अंदर का बल चाहिए। बाहर की साधना से वह तप करता है – बहुतेरे कष्ट भी उठाता है, तो वे कष्ट भी इस मन की साधना को साधने के लिए हैं। भीतर और बाहर का स्वरूप एक अपेक्षा से एक है।

बाह्य तप शरीर पर प्रभाव डालता है और आभ्यंतर तप मन की स्थिति का संशोधन करता है। आभ्यंतर तप में शरीर का सहयोग है। उसमें शरीर की मदद आवश्यक है। शरीर से बाह्य तप करने में मन की सहायता की नितान्त जरूरत है। यदि मन की स्थिति

ज्ञान भी मंद-मंद होता जाता है। इससे आत्मा की चेतना बहुत कम हो जाती है। वह अव्यक्त चेतना वाली एकेन्द्रियादि योनियों में चला जाता है, जहां उसे न तो पूरी इंद्रियां ही मिलती हैं और न मन ही होता है। ऐसी स्थिति में धर्म-साधना के लिए आवश्यक सामग्री उसे प्राप्त नहीं होती। मन और शरीर धर्म-साधना के लिए जरूरी होते हैं। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन रहता है और मन के स्वस्थ होने पर शरीर भी स्वस्थ रहता है। शरीर के विकार और मन का घनिष्ठ संबंध है। जब शरीर के अंदर कुछ विकार आता है, तो मन कमजोर बनता है।

एक व्यक्ति अच्छी तरह बैठा हुआ है। सहसा उसके शरीर में कोई व्याधि पैदा होती है तो उसका मन कमजोर बन जाता है। उसकी शारीरिक दुर्बलता के कारण उसके दिमाग में खिन्नता आ जाती है। उसके कारण वह अपने-आप को दुर्बल समझने लगता है। वह चाहे ध्यान-साधना में बैठा हुआ हो परन्तु उसका मन ध्यान से हटकर शरीर की तरफ चला जाता है। शरीर ने बलात् मन को खींच लिया। इसका तात्पर्य है कि जो ध्यान की तरफ टिक जाना चाहिए था, वह मन शरीर की तरफ पहुँच गया। तो मन का प्रभाव शरीर पर और शरीर का प्रभाव मन पर पड़ता है। कितना ही बुद्धिसंपन्न व्यक्ति हो, भौतिक विज्ञान के अनुसंधान में प्रवीण बुद्धि रखने वाला हो, आविष्कार करने में लगा हुआ हो, परन्तु पैर में शूल चुभ गया अथवा विषैले मच्छर ने काट लिया तो उसका मन, जो अनुसंधान में लग रहा था, वह उस अनुसंधान से खिसकेगा या नहीं ? उसके मन की गति डावांडोल बन जाएगी। मन कांटे को निकालने में या मच्छर की खुजली खुजलाने में लग जाएगा। विज्ञान की धारा में सही रूप में कायम नहीं रह पाएगा। उसकी धारा टूट जाएगी। वह टूटी हुई धारा से अखण्ड साधना में पूरा कामयाब नहीं होगा। जिसका शरीर बलवान है, बलिष्ठ है, वह मच्छर तो क्या खेर के अंगारे भी उसके सिर पर डाले जायें तो भी अपनी ध्यान धारा में

दिये हैं। प्रथम माध्यम है जिन-वाणी रूप श्रुत आगम और दूसरा माध्यम है अपनी वाणी पर संयम। इन दो माध्यमों के द्वारा सत्य को समझा जा सकता है और उसे अपनाया जा सकता है।

वीतराग वाणी को समझने के लिए राग-द्वेष और आग्रह की परिणति से हटकर, निर्मल भाव से, समता के धरातल पर स्थित होना आवश्यक है। वर्तमान समय में जिनेश्वर देव साक्षात् रूप में हमारे इस क्षेत्र में नहीं हैं, परन्तु उनके द्वारा प्ररूपित श्रुत आगम विद्यमान हैं। वही वर्तमान समय में हमारे लिए आधारभूत हैं। उस श्रुत को सही रूप में समझने के लिए हमारी दृष्टि व्यापक, विस्तृत और उदार होनी चाहिए। उसमें आग्रह का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। सत्य तत्त्व अनन्त है, अनन्तधर्मात्मक है। अतः उसे सापेक्ष दृष्टि से — अनेकान्त दृष्टि से ही समझाया जा सकता है। एकान्त दृष्टि से देखने पर, सत्य का सही रूप नहीं जाना जा सकता। अतः अध्यात्म योगी आनन्दघनजी ने कहा है—

**वचन निरपेक्ष व्यवहार झूठो कह्यो,
वचन सापेक्ष व्यवहार सांचो !
वचन निरपेक्ष व्यवहार संसार फल,
सांभली आदरी कांई राचो।।**

सापेक्ष दृष्टि से ही तत्त्व को जानना चाहिए और सापेक्ष रूप से ही उसका कथन करना चाहिए। जिनागम को समझने के लिए विविध नेत्रों को, विविध दृष्टि बिन्दुओं को ध्यान में रखना जरूरी है। निश्चयनय और व्यवहारनय को समझना चाहिए। दोनों नयों का अपना-अपना दृष्टिकोण है, परन्तु वे दोनों मिलकर ही सत्य के द्वार को खोलते हैं। इसलिए आनन्दघनजी कहते हैं कि—

सत्यवचन (जिन-वचन) की अपेक्षा रखकर, जो व्यवहार किया जाता है, वह सत्य व्यवहार है और सत्यवचन (जिन-वचन) की अपेक्षा न रखने वाला व्यवहार, झूठा और संसार का कारण होता है। ऐसा समझकर और मोह को हटाकर, सम्यग् निर्णय करना चाहिए।

कमजोर बनी तो शरीर से कमजोर नहीं होते हुए भी कमजोर बन जाएगा।

एक व्यक्ति बड़ी प्रसन्न मुद्रा में बैठा हुआ है। उसे सहसा सूचना मिली कि तुम्हारा विदेश में जो व्यापार चल रहा है, उसमें नुकसान हो गया। समुद्र में माल से भरा हुआ जहाज डूब गया। तो शरीर पर असर नहीं हुआ, मन पर असर हुआ परन्तु उसका परिणाम यह हुआ कि सुनते ही शरीर पर उदासीनता, खिन्नता छा गई। शरीर की शक्ति न मालूम कहां चली गई ! शरीर पर यद्यपि कोई रोग नहीं था, अच्छा भला-चंगा शरीर था। परन्तु मन को सूचना मिली, तो मन कमजोर बना और उसके प्रभाव से शरीर भी कमजोर बन गया। मन का प्रभाव शरीर पर और शरीर का प्रभाव मन पर भी पड़ता है। इन दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। बाह्य तप शरीर की प्रधानता से और आभ्यन्तर तप मन की प्रधानता से है। जहां-जहां शरीर के अवयव हैं, वहां-वहां मन की स्थिति है। जहां-जहां मन है, वहां-वहां आने वाले राग-द्वेष के दृश्य हैं और वहां कर्मों का बंधन है। उस बंधन की स्थिति में जीव उलझ जाता है, जैसे मकड़ी अपने मुंह से तार निकाल कर जाला बनाती है और किसी छोटे जन्तु को फंसाने की चेष्टा करती है। परन्तु परिणाम यह होता है कि छोटे प्राणियों को फंसाने के साथ ही साथ, वह स्वयं उसमें फंस जाती है। वैसे ही मनुष्य अंतर का ताना-बाना बनाने के लिए जाता है, बाहर के पदार्थों को आसक्ति से देखता है, छल-कपट करता है। ऐसा करते हुए जब उसे वह पदार्थ प्राप्त हो जाता है, तो अभिमान में फूला नहीं समाता है। बाधा आ गई तो दूसरे पर बरस पड़ता है। ऐसा व्यक्ति ठीक तरह से आंतरिक स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकेगा। प्रश्न होता है कि वर्तमान में शरीर की स्थिति ऐसी विचित्र बनी हुई है, तो क्या हम सत्य को समझ नहीं पाएंगे ? सत्य का द्वार उद्घाटित नहीं हो जाएगा ?

सत्य को समझने के लिए भगवान् महावीर ने दो माध्यम

महत्त्व है। जो मनुष्य वाणी के संयम को नहीं समझता है, वह वाणी से असत्य का भी प्रयोग कर लेता है। प्रायः व्यक्ति दूसरों को छलने के लिए असत्य का प्रयोग करता है। सत्य की महिमा बताते हुए कहा गया है कि साधु जब पंचमहाव्रत धारण करके चलता है तो उसके जीवन में सत्य आना ही चाहिए। परन्तु वह वाणी का सत्य कब आएगा ? जब वह वाणी का संयम करेगा। अपनी वाणी को सुसंस्कृत करने के लिये, दशवैकालिक सूत्र का ७वां अध्ययन पढ़ लेना चाहिये। वहां साधु भाषा का विश्लेषण करते हुए कहा गया कि कभी तुम बगीचे में जा रहे हो, वहां बढ़िया-बढ़िया फूल हैं और लंबे और छोटे वक्ष भी हैं, तो उन वक्षों को देखकर कोई पूछ ले कि ये वक्ष किस काम में आते हैं ? उस समय साधु सावधानी से विवेक रखते हुए कहे परन्तु ऐसा नहीं कहे कि ये वक्ष लम्बे एवं सरल दिखते हैं, तो इनके पाटिए अच्छे बन सकते हैं और इसके थंभे बन सकते हैं या अमुक प्रयोग इनका हो सकता है। यद्यपि यह बात असत्य तो नहीं है। उसके पाटिए निकल सकते हैं, उसके थंभे बन सकते हैं। परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग साधु की संयत भाषा के लिए अनुकूल नहीं है। ऐसा कहना साधु की भाषा में दोष लगाने वाला होगा। क्या उन्होंने असत्य कहा ? नहीं ! सत्य कहा है। उसके पाटिए निकल सकते हैं। परन्तु उन वक्षों में जो चैतन्य स्वरूप आत्मा रही हुई है, वह उसके शब्दों से स्पन्दित-भयभीत होती है। शब्दों के पुद्गल जैसे मनुष्य के कानों का स्पर्श करके मनुष्य की वृत्ति में शुभता और अशुभता पैदा करते हैं, वैसे ही वनस्पति के यद्यपि मनुष्य के सदृश कान नहीं हैं परन्तु ओघरूप से भावेन्द्रिय पांचों हैं। वे शब्द उनकी हिंसा के निमित्त बन सकते हैं क्योंकि कोई सुथार आदि उन वचनों को सुनकर, उन वक्षों को काटने का काम कर सकता है। अतएव वे वचन सावद्य वचन हैं।

साधु छः-काय के जीवों का रक्षक है। वह मन, वचन और

अर्थात् दोनों नयों के समन्वय से ही सत्य का मर्म जाना जा सकता है।

सत्य को समझने के बाद उसको व्यक्त करने के लिए, वाणी भी सापेक्ष होनी चाहिए। निरपेक्ष वाणी अपूर्ण होती है, परिपूर्ण नहीं होती। उससे वस्तु का समग्र रूप प्रकट नहीं होता।

उदाहरण के लिए एक पुष्प को ले लीजिये। उसमें प्रकट रूप से लाल रंग दिखाई पड़ रहा है, परन्तु निश्चय दृष्टि से उसमें पांचों वर्ण पाये जाते हैं। लाल रंग की बहुलता होने से वह लाल दृष्टिगोचर होता है। अतः उस फूल को लाल ही कहना एकांगी कथन है। क्योंकि निश्चय से उसमें सब रंग होते हैं। इसी तरह सब वस्तुओं को सापेक्ष दृष्टि से देखना चाहिए। बाग में हजारों पेड़ आम के लगे हुए हैं और दस या पच्चीस पेड़ नीम के भी खड़े हैं। उस बगीचे को संबोधन करना है तो क्या कहेंगे ? यह बगीचा किसका है ? कहा जाता है कि आम का बगीचा है। वह व्यक्ति आम का बगीचा कह रहा है। उसके कथन में आम की प्रधानता है। इसलिए आम का बगीचा ही मुख्य रूप से कह रहा है। यद्यपि पांच-पच्चीस नीम के भी वक्ष हैं और अन्य लताएं-पौधे भी हैं। परन्तु वे गौण रूप में रहे हुए हैं। आम के पेड़ों की प्रधानता होने से, आम का कथन कर रहा है। इस दृष्टि से आम का बगीचा बताता है, तो उसका कथन सत्य है। यदि उसके विचार में नीम के वक्ष और पौधे हैं ही नहीं और यह सर्वथा आम का ही बगीचा है, और कोई नहीं, तो वह निरपेक्ष होने से झूठा है। ऐसे शब्दों का व्यवहार करने वाला व्यक्ति संसार की दुर्दशा में पड़ता है। संसार के फल को पाता है।

भगवान महावीर ने एक बड़ा माध्यम दिया कि यदि तुम्हारी शक्ति वैसी नहीं है, तो सत्य को उद्घाटित करने का मार्ग तुम्हारे पास है। तुम प्रत्येक वस्तु को सापेक्ष दृष्टि से समझने की कोशिश करो।

जीवन में सत्य को प्रकट करने के लिए अपनी वाणी का भी

विचार कर लेना चाहिए। उसमें जितनी कमी रहेगी उतनी भाषा समिति में कमी रहेगी। यह साधु जीवन को लक्ष्य करके कहा गया है परन्तु श्रावक-श्राविका भी सत्य के अनुगामी तो बन ही सकते हैं। चतुर्विध संघ को उद्देश्य एक है। जिस सत्य को पाने के लिए साधु की भावना रहती है, उसी मोक्ष रूपी सत्य को पाने के लिये, श्रावक और श्राविका भी ध्यान रखेंगे तो एक दिन वे भी उस परम सत्य को परिपूर्ण रूप से पाने में समर्थ हो सकेंगे।

मैं पूछ लूं कि आप धर्मक्रिया करते हैं, तो किसलिए करते हैं ? मोक्ष के लिए ही न ? संभव है, मेरे भाई मेरी बात को समझने में कठिनाई अनुभव करते होंगे ! परन्तु बात आज समझ में नहीं आई, तो कल आ जाएगी। जब तक आप अपनी व्यवहार पद्धति को सत्याभिमुख नहीं बनाएंगे, तब तक जीवन व्यवहार और मन, वचन, काया की प्रवृत्ति आपके लिए सुखप्रद नहीं होगी। मैं चतुर्विध संघ को भी इसके साथ ले रहा हूँ। आप भी अलग नहीं रह सकते हैं। जो बोध साधु-साध्वी को दिया गया, वही बोध आप के लिए भी है। यानी श्रावक-श्राविका को भी दिया गया है।

प्रभु महावीर के शासन में साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, चारों को तीर्थ कहा गया है। इस तीर्थ में चारों के लिए अपनी-अपनी भूमिका बताई गई है। श्रावक-श्राविकाएं भी तीर्थ स्वरूप हैं, अतः उनकी भी आचार संहिता बताई गई है। उस आचार संहिता के अन्तर्गत श्रावक-श्राविकाओं के लिए भी विधि-विधान हैं जिनका पालन करना उनका कर्तव्य है। 'हम तो गहस्थ हैं' ऐसा कहकर वे अपने दायित्व से बच नहीं सकते। श्रावक के कर्तव्य को बताते हुए कहा गया है कि प्रथम, 'श्रावकजी थोड़ा बोलें' और दूसरा, 'श्रावकजी मीठा बोलें', आवश्यकता के अनुसार शब्दों का प्रयोग करें। अनावश्यक न बोलें, मतलब है कि सत्य बोलना श्रावक का कर्तव्य है। आवश्यकता होने पर थोड़े शब्द बोले और मीठा बोले। यह नहीं हो कि उसके वचनों से किसी का कलेजा फट जाए। और फिर कहे कि क्या

कर्मणा, हिंसा करने का त्यागी है। वह स्वयं हिंसा करता नहीं, करवाता नहीं और करते हुए को अच्छा समझता नहीं— मन से, वचन से और काया से। उसने काया से हिंसा का प्रयोग नहीं किया, काया से वक्ष को छुआ नहीं। परन्तु उसने जो वचन कहे वे आरम्भ (हिंसा) के निमित्त बन सकने के कारण सावद्य हैं। सावद्य वाणी बोलना वचन-सापेक्ष नहीं है अर्थात् जैन सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। अतः सावद्य भाषा से बचने का निर्देश किया गया है। यदि भाषा का विवेक है, तो उस वक्ष का निरवद्य रूप से कथन किया जा सकता है। जैसे कि— देखो ! यह अमुक जाति का वक्ष है। कितना ऊँचा पेड़ है ! इसने कितनी सरसता भूमि से ली है ! यह कितने फलों से लदा हुआ है ! और कितना दुनिया का भला कर रहा है ! इसकी शीतल और सुखद छाया में विश्राम करके पथिक अपनी गरमी और थकावट को मिटाते हैं। यदि इस प्रकार का वर्णन किया जाय तो यह निरवद्य भाषा होगी। यह निरवद्य भाषा वचन सापेक्ष है। शास्त्र कहते हैं कि सत्य होते हुए भी जो वचन पर-पीड़ाकारी हों, वे नहीं बोलने चाहिए। साधु को भाषा समिति का पालन करना चाहिए। भाषा समिति का शास्त्र में विस्तार से वर्णन है। वहां कहा गया है कि साधु कर्कशकारी, मर्मकारी वचन नहीं बोले। और आठ दोषों को टालकर निरवद्य वचन बोले। यदि साधु ऐसी निरवद्य सत्यभाषा बोलता है तो दुनिया को शुभ संकेत मिलता है। जब ऐसे वचन बोल रहे हैं तो वे स्वतः नहीं बोले जा रहे हैं। परन्तु वचन का उच्चारण करने में, मन का योग लग रहा है। मन भी सत्य के साथ लग रहा है। वचन भी जब उच्चरित होता है तो इसमें शरीर का सहयोग है। काया का भी उस सत्य-व्यवहार में योग है। इसलिए मन, वचन और काया से उस सत्य-व्यवहार की ओर बढ़ें। उसको ध्यान में रखकर, प्रत्येक साधु और साध्वी को चलने की आवश्यकता है।

वचनों का प्रयोग करने से पहिले, उनकी समीचीनता का

हैं और जिनके पास पैसे की शक्ति है, तो वे हवाई जहाज से जाते हैं। जैसे-जैसे ये साधन मिले, वैसे-वैसे शारीरिक शक्ति कम हो गई।

आत्मिक शक्ति बटोरने के लिए बाह्य पदार्थ को छोड़ना होता है। सत्य भीतर है। सत्य को पाने के लिए भीतर की ओर मुड़ना पड़ेगा। आप कहेंगे कि हम इतनी भीतर की शक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते हैं कि साधु की तरह सब छोड़कर चलें। तो कम से कम आप इतनी शक्ति तो रखें कि मार्ग को तो नहीं छोड़ें ! वे छोटे से छोटे प्राणी को भी नहीं सताते हैं, तो हम कम से कम मानव को तो नहीं सतायें। गलती हो जाये तो क्षमा मांग लें। मैं समझता हूँ कि इससे अधिकांश समस्याएं हल हो जायें। उसमें अर्थ की समस्या, पारिवारिक समस्या और सामाजिक समस्या भी है। आप उनको हल करने में, शक्ति लगाते हैं। परन्तु बाह्य स्थिति में ऐसे उलझ जाते हैं कि एक-दूसरे को छिन्न-भिन्न करते हुए चले जा रहे हैं। अन्दर की शक्ति छिन्न-भिन्न किससे है ? वाणी के द्वारा। वाणी का अविवेक होता है तो छिन्न-भिन्नता होती है। ऐसे शब्दों का प्रयोग कर दिया कि सारे दुश्मन हो गए। तो वचनों ने ही तो दुश्मन किए। यदि आप वचन मीठे बोलेंगे, तो दुश्मन भी, सज्जन बन जायेंगे। और फिर यहां भी सज्जन, वहां भी सज्जन दिखेंगे। तो अब अंतर को परिमार्जित करना है। स्वर्गीय आचार्य गुरुदेव, जिनके दर्शन आपने किये। उनकी आपने सेवा भी की। उसका सौभाग्य आपको कितना मिला ? वे गुरुदेव वचन के विषय में कभी-कभी फरमाया करते थे। उनकी वह बात मुझे भी याद आ जाया करती है।

दुष्काल के कारण जब गरीब जनता दुखित हुई तो एक उदार श्रीमन्त ने सोचा कि, मेरे पास अन्न और धन का बल है। इस दुष्काल के समय जितना मैं इसका उपयोग अभावग्रस्त व्यक्तियों को सहयोग देने में कर सकूँ, उतना ही मेरे तन, धन और वाणी की सार्थकता है। तो उसने नजदीक और दूर के परिजनों को कम और मीठे शब्दों में संबोधित किया, कि मैं श्रावक हूँ। और श्रावक, तीर्थ

करूँ ! उसने बोल दिया तो मैं भी बोल गया। अरे ! सोच तो सही ! अगला कुएं में उतर जाएगा तो क्या तुम भी उतर जाओगे ? आप तीर्थ में रहना चाहते हैं या अलग होना चाहते हैं ? भगवान के दिये हुए पद को छोड़कर, तेरे-मेरे में लगना चाहते हैं ? श्रावक-श्राविकाएं सोचें कि उन्हें कैसे बोलना चाहिए ? वनस्पति का दिल दुखे तब साधु ऐसे वचन भी नहीं बोले ! तो क्या आप, किसी के दिल के टुकड़े हो, ऐसे वचन बोल सकते हैं ? और जिन शब्दों से सास और बहू के दिल के टुकड़े हों, ऐसे वचन क्या सास बहू के प्रति, बहू सास के प्रति बोल सकती है ? कदापि नहीं। ऐसा बोलने से क्या आप तीर्थ के दायित्व से चूक नहीं रहे हैं ?

तीर्थ पदवी से आप अपने-आप को शोभित रखना चाहते हैं, तभी तो आप साधु-साध्वी के पास पहुँचते हैं ! तपस्याएं करते हैं, परन्तु वचन की शुद्धि भी आवश्यक है। आपने यदि बेला-तेला और मासखमण की तपस्या भी कर ली और यदि स्वार्थ में थोड़ी कमी पड़ गई तो वचन ऐसे बोल गए कि दूसरे का दिल तोड़ दिया। बहिर्नै तपस्या तो करती हैं, परन्तु सास और बहू में झगड़ा चलता रहता है। एक-एक को मैं बोलता हूँ कि चाहे कुछ भी हो जाए, यह पद श्राविका तीर्थ का पद है उसका पूरा खयाल रखना चाहिए। आप एक-दूसरे की कथा तो सुनते हैं परन्तु अपनी भी कथा तो सुन लिया करें कि अपना जीवन किस धरातल पर चल रहा है ? साधु और श्रावक, दोनों मोक्ष के लिए प्रयास करते हैं। साधु हवाई जहाज की गति से साधना में चल रहा है तो श्रावक पैदल या बैलगाड़ी में चल रहा है। रास्ता तो वही है। वे ही भाव हैं। जिसके पास शक्ति है, तो हवाई जहाज में जा रहा है और नहीं है, तो रेल, मोटर में या पैदल जा रहा है। जितनी शक्ति है, उसके अनुसार जा रहे हैं। परन्तु लक्ष्य तो एक ही है। भौतिक स्थिति से हटते हैं, तो आंतरिक बल बढ़ता है। जो बाहरी वस्तु को छोड़ते हैं, तो अंतर को पकड़ते हैं। जब आपके पास वाहन नहीं है, तो आप शारीरिक शक्ति से चलते

सब आकर बैठ गए। सेठ ने पुत्रों को कहा कि सब लोग आ गए हैं, तो शांति के साथ परोसगारी करो।

सेठ भी परोसगारी करने लगा और पुत्र भी परोसगारी कर रहे हैं। बड़ा पुत्र परोसगारी करते हुए एक बहिन को जल्दी-जल्दी में परोसना भूल गया। उस बहिन ने कहा कि इधर भी परोसते जाओ। फिर भी उसने सुना नहीं। तो तीसरी बार उस बहिन ने उसका पल्ला पकड़ते हुए कहा कि यहां भी परोसते जाओ। तो सेठ के बड़े पुत्र ने झुंझलाकर कहा कि अरे ! इतने महीने हो गए रोटियों के टुकड़े खिलाते हुए, परन्तु यहां भी पल्ला खींचना नहीं छोड़ा।

इतना कहना था, कि सारे के सारे उठ खड़े हुए। तो क्या हो गया शब्दों में ? इतने रोज जो स्वधर्मी वात्सल्यता दिखाई, परन्तु इन शब्दों को कहकर सब पर पानी फेर दिया। सेठ ने पुत्र से

का सदस्य होन के नाते कुछ दायित्व हैं। मेरे पास संपत्ति है, वह दुख-दर्द के ऐसे समय में काम नहीं आएगी, तो कब काम आएगी ! मैं आप सब लोगों से निवेदन करता हूँ कि यह धन-संपत्ति मेरी नहीं, परन्तु आप सब की है। कृपा करके, इस दुष्काल के समय में, जीवन की रक्षा हेतु मेरे चौक में पहुँच जाया करें और प्रतिदिन भोजन कर लिया करें। जो कुछ लूखी-सूखी रोटी है, वह खिला दूंगा।

कहिए ! कितनी विनम्रता के साथ शब्दों का प्रयोग किया ? चाहे कोई भाई भी कष्ट में हो, और बड़ा भाई छोटे भाई को सत्कार के साथ निमंत्रण देता है, तो छोटे भाई का दिल बढ़ जाता है। बड़े भाई के पास संपत्ति है और वह छोटे भाई को कहे कि क्यों भूखा मरता है, यहाँ से खा लिया कर। तो ऐसे शब्द सुनकर, क्या छोटा भाई खाने को तैयार हो जाएगा ? कभी नहीं। परन्तु सेठ ने ऐसे मीठे शब्दों का आग्रहपूर्वक प्रयोग किया कि जिसके परिणामस्वरूप सैंकड़ों की संख्या में लोग उस दुष्काल में सेठ के यहां जीमते। जब सुकाल आया, सारी स्थिति बदल गई। उस समय सेठ ने सोचा कि जो ये मेरे सज्जन, स्नेही मुझको पुण्य भाग देने के लिए पधारते हैं और मैं सत्कार करता था। परन्तु अब, जब सुकाल आ गया, तो ये अपने-अपने घर पर पहुँचेंगे और अपनी-अपनी स्थिति से रहेंगे। तो मैं इनको विदाई में प्रीति भोज दे दूँ। साधर्मी वात्सल्यता का अर्थ है कि साधर्मी भाई के प्रति प्रेम उंडेल देना। उसने मिठासभरे विनम्र शब्दों में उन्हें कहा कि अब आप अपने-अपने घर जाकर जीमेंगे। मुझे अब पूर्ववत् सौभाग्य प्राप्त नहीं होगा। अतः मेरा अंतिम निवेदन है कि सामूहिक भोजन स्वीकार करें। मैं विदाई भोज देकर आप सबको विदा दूँ। श्रावक की भावना को महत्त्व देकर, उन्होंने निमंत्रण स्वीकार किया। उन्होंने सोचा कि इतने वैभवशाली सेठ, जिसने अपने तन, मन, धन से इतना लाभ लिया, उसकी वाणी में कितनी नम्रता है। उन्होंने निमंत्रण को स्वीकार किया और अंतिम भोज में

थोड़ा और मीठा बोलने का अभ्यास कर लिया तो आपका जीवन मंगलमय बन जाएगा।

इत्यलम्

लोक-व्यवहार एवं धार्मिक विधि-विधान

प्रार्थना

धार तोरवारनी सोहेली, दोहेली, चौदमां जिण तणी चरण सेवा। धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवा नी धार पर रहे न देवा।। देव, गुरु धर्म नी श्रद्धा कहो किम रहे, किम रहे शुद्ध श्रद्धान आणो। शुद्ध श्रद्धान विण सर्व किरिया करी, छार पर लीपणु तेह जाणो।। धा.।।

बंधुओ ! आध्यात्मिक जीवन का निर्माण करने हेतु धार्मिक सभा का आयोजन होता है। वह आयोजन पवित्र भावनाओं को उभारने वाला एवं जीवन की साधना के लिए विविध आयामों के द्वार खोलने वाला बनता है। धार्मिक सभा में, धार्मिक प्रवचनों की प्रबलता रहती है। वही प्रधान रूप से उसका विषय होता है। उस संदर्भ में धार्मिक सभाओं में जो कुछ भी विवेचन आता है वह शास्त्र के आधार को सम्मुख रखकर किया जाता है। शास्त्र भी वे शास्त्र, जो वीतरागदेव के द्वारा प्रतिपादित हैं। वीतरागदेव ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता प्राप्त की। आत्मा के परिपूर्ण निर्मल स्वरूप में, जिन तत्त्वों का अवलोकन किया, साधकों के लिये, जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और सिद्धान्त के साथ-साथ आचार संहिता अर्थात् आध्यात्मिक साधना के लिये कौनसी पद्धति अंगीकार की जाए, उस पद्धति विषयक विधि-विधानों का, स्पष्ट रूप से निर्देश दिया। उन्हीं निर्देशों से परिपूर्ण जो शास्त्र हैं, वे ही शास्त्र जीवन के लिये

कहा-अरे ! शांति से परोस देता ! आखिर सेठ ने क्षमा याचना की और कहने लगा, भाइयो ! आप मुझे माफ करें। आप इसकी तरफ नहीं देखे। सेठ के प्रति तो सबकी वही भावना थी। सब जीमे। परन्तु यह स्थिति क्यों हुई ? क्योंकि उसने वाणी पर संयम नहीं रखा। इस तीर्थ के दायित्व को निभाने के लिए ही यह रूपक दिया है।

आप अपने जीवन का प्रत्येक क्षेत्र देखिए। आप सच बोल रहे हैं या झूठ बोल रहे हैं, इतना आप जरूर समझिए। भव्यशीला भी तीर्थ के दायित्व को लेकर चल रही थी। जब एक राजकन्या भी अपने जीवन पर नियंत्रण रख सकी तो आप भाई-बहिन भी जीवन पर नियंत्रण रखकर चलें। आप संसार के दुखों से छूटकर मोक्ष की तरफ जा सकेंगे। ये वचन ही सज्जनता और असज्जनता के प्रतीक बन जाते हैं। वाणी ही दुश्मन और दोस्त बना लेती है। कोयल और कौवा-इन दोनों की वाणी कैसी है ? दोनों की वाणी में रात और दिन का अन्तर है। कौवे की वाणी किसी को पसंद नहीं आती है। जबकि कोयल की वाणी को सब सुनना पसंद करते हैं। दोनों की तुलना करते हुए कवि कह रहा है कि

कोयल किसको देत है और कागा किस से लेत।

(मिष्ट वचन के कारणे जग वश में कर लेत)

कोयल मीठे वचन तें, सब का मन हर लेत।।

कौवा किसी से कुछ लेता नहीं है और कोयल किसी को कुछ देती नहीं है फिर भी कोयल मीठे वचन बोलती है तो सब के मन को हरण कर लेती है। श्रावक का गुण है कि थोड़ा और मीठा बोले। यदि आपने इस गुण को अपने जीवन में स्थान दे दिया और

तत्थन विज्जइ मइतत्थन गोहिया” बुद्धि और तर्क, इन-दोनों का वहां प्रवेश नहीं। बुद्धि का क्षेत्र बहुत सीमित होता है। और तर्क अप्रतिष्ठित होता है। वह सही भी होता है और गलत भी होता है। वह बौद्धिक शास्त्र है। बाल की खाल उतारने के लिए यह औजार बन सकता है। परन्तु आध्यात्मिक जीवन की अनुभूति का यह साधन नहीं बन सकता है।

जो विषय बुद्धिगम्य है, उसी के विषय में तर्क की गति है जो विषय बुद्धि से अतीत है, उस विषय में तर्क की गति नहीं होती। अतः अनेक विषय ऐसे हैं, जो केवल श्रद्धागम्य हैं। श्रद्धागम्य को श्रद्धा से और बुद्धिगम्य को तर्क से जानना चाहिए। ऐसा करने से ही शास्त्रों को हृदयंगम किया जा सकता है। अध्यात्म में तर्क और बुद्धि की पहुंच नहीं है। वह आत्मा की अनुभूति का विषय है। अतः वीतरागता के प्रतिपादक शास्त्र ही वस्तुतः कल्याणकारी हैं।

जीवन की शुद्धि अन्तःतल से आती है। जीवन को शुद्ध बनाने के लिए, पापरहित बनाने के लिए महाव्रतों को अंगीकार करना होता है। उन महाव्रतों का पालन करते हुए मन के अध्यक्षियों में उतार-चढ़ाव आता रहता है। उन अध्यक्षियों का और उनके परिणामों का जो विश्लेषण वीतराग प्रणीत शास्त्रों में उपलब्ध होता है, वह अन्यत्र कहीं नहीं दृष्टिगोचर होता। आत्मिक उतार-चढ़ाव का अनुभव तो आत्मा ही कर सकता है।

पुस्तकीय ज्ञान और लौकिक ज्ञान से बढ़कर अनुभव ज्ञान होता है। अनुभव से ही प्रत्येक विषय में प्रौढ़ता प्राप्त होती है। डॉक्टर जब तक प्रेक्टिकल रूप में प्रयोग नहीं करता, तब तक वह डॉक्टरी सिद्धान्त के अनुसार शरीर चिकित्सा का, सही मायने में माहिर डॉक्टर नहीं बन सकता। यही कारण है कि जब वह डॉक्टरी परीक्षा पास कर लेता है, तो उसके बाद बुजुर्ग, अनुभवी डॉक्टर के पास रहकर वह ठीक तरह से अभ्यास करता है और पुस्तकों की बातें अनुभूति के साथ जोड़ता है। वकालत के व्यवसाय में भी ऐसा

कल्याणकारी बनते हैं।

आप सोचेंगे कि वही क्यों ! अन्य भी कई शास्त्र हो सकते हैं। परन्तु देखना यह है कि वे शास्त्र अपूर्ण व्यक्तियों के द्वारा रचे गये हैं या परिपूर्ण व्यक्तियों के मुखारविन्द से निसृत हुए हैं ? शास्त्रों की प्रामाणिकता उनके रचयिताओं पर निर्भर है। यदि शास्त्रों के वक्ता या रचयिता पूर्ण ज्ञानी हैं, सर्वज्ञ हैं, रागादि दोषों से रहित हैं, तो उनके प्ररूपित शास्त्र प्रामाणिक हैं। क्योंकि उन आप्त पुरुषों ने अपने-आप को साधना (तपस्या) की आग में तपाकर राग-द्वेष-मोह-अज्ञान आदि को निर्मूल नष्ट कर अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् ही शास्त्रों को प्ररूपित किया है, अतएव वे ही वास्तविक शास्त्र हैं। जिनके रचयिता पूर्ण ज्ञानी नहीं है, तप की आग में तपकर जो निर्मल और विशुद्ध नहीं बने हैं, उनके द्वारा रचित शास्त्र प्रामाणिक नहीं हैं।

विचारों की क्षमता रखने वाला चिंतक पुरुष वीतराग प्ररूपित शास्त्रों को हृदयंगम किए बिना नहीं रहता है। जहां भी वीतराग कथित तत्त्व और सिद्धान्त मिलते हैं, उनको लेने में कोई आपत्ति नहीं होती। परन्तु जिनके जीवन में बौद्धिक बल तो आया, तर्कशक्ति आई, भौतिक अनुसंधान का विज्ञान तो आया परन्तु वीतरागता नहीं आई, ऐसे व्यक्ति यदि किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं, किसी मार्ग का निर्धारण करते हैं, तो वह निर्धारण परिपूर्ण नहीं होता। इसका स्पष्ट कारण यह है कि बुद्धि का आयाम अलग है और चारित्र की शुद्धि का आयाम दूसरा है। बुद्धि के बल पर व्यक्ति बहुत-कुछ कह सकता है परन्तु उपादेय नहीं होता। बुद्धि के कल्पित आधार पर जिस शास्त्र का निर्माण किया गया हो, वह शास्त्र न तो परिपूर्ण होता है, और न उस शास्त्र में आत्मिक शुद्धि का निर्झर ही बह सकता है। शास्त्रकारों ने जिस अनुभूति का संकेत दिया, उसमें बुद्धि कुछ हद तक ही कार्य करती है। आगे चलकर बुद्धि से परे आगम सिद्धान्त हैं। कहा भी गया है कि—“ तक्का

और अनेक विधि-विधान बताये। उन्होंने भोग-प्रधान संस्कृति (युगलिया धर्म) के स्थान पर कर्मप्रधान संस्कृति का प्रवर्तन कर नये युग का निर्माण किया। लोक-व्यवस्था करने के पश्चात् ही भगवान ऋषभदेव ने अध्यात्म की ओर कदम बढ़ाया और जनसमुदाय को मोक्ष का मार्ग बताया। राज्य का परित्याग कर वे मुनि बने और केवलज्ञानी बनने के बाद तीर्थ की स्थापना की। मोक्षमार्ग का प्रवर्तन किया। साधना के पथ पर जो ऊँचे-नीचे अनुभव हुए, सत्कार और सन्मान तथा अपमान एवं तिरस्कार भी मिला। जब साधना करते हुए परिपूर्ण केवलज्ञानी बने तब उन्होंने उपदेश दिया। वह उपदेश बाद में क्यों दिया ? उसका उत्तर है कि जीवन के परिमार्जन के बाद जो उपदेश होता है, वह सही होता है। ऐसा उपदेश वीतरागदेव ही कर सकते हैं- अन्य नहीं कर सकते। जो छद्मस्थ व्यक्ति की बात होती है, वह छद्मस्थता तक सीमित रहती है। यह बात आपके सामने आ रही है। ऐसा उपदेश, जो तीर्थकर देव ने किया, वह जगत्-कल्याण के लिये बहुत हितकर है। चाहे हजारों वर्ष पहिले का उपदेश हो, परन्तु वह आज प्रासंगिक है। कोई भी व्यक्ति आज अन्तर् की अनुभूति के साथ जोड़कर उसका परीक्षण कर सकता है। जहाँ तक वैज्ञानिक परीक्षणों का प्रश्न है, वह पूर्ण नहीं है। उच्चकोटि के वैज्ञानिक बोलते हैं कि हमने इतने आविष्कार किये परन्तु वे समुद्र में एक बूंद के बराबर भी नहीं हैं। आज भी विज्ञान की ऐसी बातें हैं, जिनका निष्कर्ष निकालना हमारे बूते की बात नहीं है। जब तक वैज्ञानिक पराकाष्ठा पर पहुँचकर अन्यथा निर्णय नहीं देते, तब तक जितने हद तक उन्होंने निर्णय दिया है, उसी हद तक हम कह सकते हैं कि परिपूर्ण सिद्धान्त की तरफ यह विज्ञान आ रहा है। यही बात कही जा सकती है। विज्ञान कह रहा है इसलिए वह परिपूर्ण सिद्धान्त है, यह बात ठीक नहीं है। विज्ञान की ज्ञान परंपरा, सिद्धान्त के नजदीक पहुँच रही है, यह हा जा सकता है। भावार्थ यह है कि शास्त्र वही है जो केवलीभाषित है। और केवलीभाषित शास्त्र की

ही है। कानून की परीक्षा पास कर लेना ही पर्याप्त नहीं होता, उसका प्रेक्टिकल अनुभव करना होता है। अनुभवी वकील के पास रहकर उसका अनुभव जब तक नहीं किया जाएगा तब तक उसका धंधा भी सही रूप में नहीं चल सकेगा। व्यापार की पुस्तकें पढ़ लेना, एक बात है, परन्तु उसका अनुभव व्यापारी के पास बैठकर करना दूसरी बात है।

कृषि की बात लीजिये। एक तो कृषक विद्यार्थी, जो स्कूल-कॉलेज में कृषि विद्या किताबों से पढ़ता है, डिग्री प्राप्त कर लेता है परन्तु जो कृषक पीढ़ियों से खेती करता हुआ आ रहा है उसकी कला और विज्ञान, वह विद्यार्थी जब तक प्राप्त नहीं करेगा तब तक वह खेती में माहिर नहीं बन सकता है। एक ही विषय की बात नहीं, परन्तु प्रत्येक विषय की बात है। जहाँ तक आध्यात्मिक क्षेत्र की बात है, वहाँ तो अनुभूति की ही प्रधानता है। तीर्थकर देवों ने स्वयं की अनुभूति के पश्चात् ही जैन सिद्धान्तों का प्ररूपण किया है। उन्होंने अपने ज्ञान के द्वारा जो कुछ कहा है, उसका उन्होंने स्वयं आचरण किया है। तीर्थकरों के अनुभव-परक ज्ञान से ही जैन तत्त्वज्ञान स्फुरित हुआ है।

तीर्थकर देव पूर्वजन्मों में उपार्जित पुण्यों के कारण, अनेक विशेषताएँ लेकर पैदा होते हैं। उनका जन्म, क्षत्रिय राजकुलों में होता है। तीर्थकरों को मति, श्रुत और अवधि - ये तीन ज्ञान माता के गर्भ में भी होते हैं। इन विशेषताओं के कारण, उनका प्रारम्भिक जीवन भी, सभी दृष्टियों से असा धारण होता है। उनका व्यावहारिक ज्ञान भी चमत्कृत करने वाला होता है। राजकुल में जन्म लेने के कारण, उन्होंने राज्य भी किया। लोक-व्यवस्थाएं और मर्यादाएं भी स्थापित कीं।

भगवान ऋषभदेव आदि युग के महापुरुष थे। उन्होंने तत्कालीन जनसमुदाय को पुरुषार्थ का पाठ पढ़ाया। अनेक कलाएँ सिखाईं। उन्हें कर्म-प्रधान बनाया। लोक-व्यवस्था के लिए शासन-तंत्र संभाला

अब तो जमाना ऐसा है, तो परिवर्तन करना चाहिए। नहीं किया तो रूढ़िवादिता है। वे परिवर्तन करना चाहते हैं। सोचना है कि हम क्या कर रहे हैं ? वीतरागदेव की कहीं अवज्ञा तो नहीं कर रहे हैं ? आनन्दघनजी ने स्पष्ट संकेत दिया, कि

**देव, गुरु, धर्मनी श्रद्धा कहो किम रहे,
किम रहे शुद्ध श्रद्धान आणो।
शुद्ध श्रद्धान विण सर्व किरिया करी,
छार पर लीपणु तेह जाणो।।**

देव, गुरु, धर्म की शुद्ध श्रद्धा कैसे रहे ? यह बात प्रधान रूप से सोचने योग्य है। देव में अरिहंत और सिद्ध हैं। देव दोनों हैं। सिद्ध तो सिद्धिस्थल में हैं। उन्होंने सिद्धान्त नहीं बताए। परन्तु अरिहंत ने सिद्धान्त बताए हैं। उनके सिद्धान्तों का पालन करने के लिए साधक को ईमानदारी से प्रयत्न करना चाहिए। हमने घर-बार, परिवार छोड़ा, समाज का मान-सत्कार छोड़ा और साधना के पथ पर चले हैं, तो ईमानदारी से उसके नियमों को पालना प्रत्येक साधक का फर्ज हो जाता है। गहस्थ व्यक्ति भी घर के नियमों का ईमानदारी से पालन करे। जो साधु घर-बार छोड़कर आया और वह ईमानदारी से संयम का पालन कर रहा है, वह मोड़ नहीं खाता है, तो उसके लिए कहा जाता है कि यह रूढ़िवादी है। यह रूढ़िवादिता की कौनसी परिभाषा है ? जो तीर्थंकर के बनाए हुए नियमों का पालन कर रहा है, उसे रूढ़िवादी कहना कैसे उचित हो सकता है ? उन नियमों का पालन नहीं करने वालों को उदार और अच्छा बताना तो तीर्थंकर देव की अवज्ञा है। आशातना है। जब प्रसंग आए और प्रसंग पर सही बात नहीं रखता हूँ, तो ठीक नहीं रहता है। उसके साथ ही साथ मैं खुले दरवाजे रखता हूँ। मैं सबको आह्वान करता हूँ कि मुझको समझायें कि जो वीतरागदेव की आज्ञानुसार ईमानदारी से चले, वह रूढ़िवादी है या वह प्रगतिपथ वाला है ? मैं चिन्तन करने

विवेचना अपूर्ण व्यक्ति भी कर सकता है। परन्तु शास्त्र के विपरीत नहीं। शास्त्र के अनुकूल विवेचना करता है, तब तो वह प्रामाणिक है, तीर्थंकर का यथार्थ अनुयायी है—सम्यक्त्वी है। वह सिद्धान्त को इस रूप में नहीं समझाता है, और सिद्धान्त से विपरीत कहता है, उसके विषय में शंकाशील बनता है, उन सिद्धान्तों में अपनी ओर से घालमेल करता है, तो वह उन शास्त्रों के प्रति न्याय नहीं करता। वह अपनी मान्यता शास्त्रों पर थोपता है। वह सही अर्थों में शास्त्रों का विवेचन नहीं है।

जनतंत्रीय राज्य प्रणाली में भी विधि-विधान के अनुसार ही कार्य होता है। यदि विधान में कोई त्रुटि परिलक्षित होती है तो संविधान में भी संशोधन किया जा सकता है। उसके लिए भी संविधान निर्माताओं ने नियम बनाये हैं। उनके अनुसार ही संविधान में संशोधन हो सकता है। कोई व्यक्ति या कोई पक्ष अपनी इच्छानुसार विधान में परिवर्तन नहीं कर सकता है। वैसे ही सामाजिक विधि-विधान है।

जब समाज की भी संरचना होती है, तो उसमें समाज के व्यक्ति बैठकर समाज का विधान बनाते हैं। यदि उनमें कोई त्रुटि हो, तो बाद में समाज के लोग इकट्ठे होकर, विधि के अनुसार संशोधन कर सकते हैं। क्योंकि समाज के लोगों ने ही उन नियमों को बनाया है, अन्य किसी ने नहीं। जहां लोक-व्यवहार भी विधि के मुताबिक चलता है, तो धार्मिक नियमों में मनमाने फेरफार करने की बात करना कैसे उचित हो सकता है ? ये जैन सिद्धान्त बनाए नहीं गए, परन्तु अंतर् की अनुभूति से प्रकट हुए हैं। जैसे सूर्य का प्रकाश शाश्वत है, वैसे ही ये सिद्धान्त शाश्वत हैं। ये कृत्रिम नहीं हैं। बनाए नहीं गए हैं। इनका प्रकटीकरण जिन्होंने किया, वे ही इनका संशोधन दे सकते हैं। जिन्होंने इनको प्रकट नहीं किया और जिन्हें परिपूर्ण बोध भी नहीं है, वे यदि लौकिक वातावरण को देखकर कहें कि लौकिक व्यवहारों को आध्यात्मिक क्षेत्र में लागू करना चाहिए।

दुकानदार है। वह दुकान पर टंगी हुई मूल्य सूची के मुताबिक उसका ईमानदारी से पालन कर रहा है और एक ब्लेक कर रहा है, मूल्य सूची का ईमानदारी से पालन नहीं कर रहा है। तो कहिए ! क्या वह व्यक्ति कानून की नजरों में दोषी नहीं है ? ऐसे ही धर्मक्रियाओं के भी कानून हैं। उनका ईमानदारी से पालन नहीं करे, यह स्वच्छंदता है। गुणों को प्रश्रय देना चाहिए, दोषों को नहीं। आनन्दघनजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि,

**धार तरवार नी सोहेली दोहेली,
चउदमा जिन तणी चरण सेवा।
धार पर नाचता देख बाजीगरा,
सेवना धार पर रहे न देवा।।**

वीतराग देव के मार्ग पर शुद्ध श्रद्धापूर्वक जो चल रहा है, उसको किसी बात की चिन्ता नहीं होती, ऐसे महात्मा निर्भयतापूर्वक चलते हैं। उन्हें कोई परवाह नहीं होती। वे मान-सन्मान की परवाह नहीं करते। मेरे पीछे कितनी जनता आ रही है और मैं वातावरण को देखकर चलूँ — ऐसा वे नहीं सोचते हैं। वे तो अपने शुद्ध लक्ष्य को देखते हैं। लोग मेरा मान-सन्मान कर रहे हैं या नहीं। आनन्दघनजी अपने रास्ते पर चले। किसी ने उनका मान-सन्मान किया, तो भी ठीक और तिरस्कार किया तो भी ठीक। उन्होंने ऐसे व्यक्तियों को फटकार दिया जो वीतरागदेव के सिद्धान्त का पालन नहीं करते हैं और आध्यात्मिक जीवन की साधनानुसार वस्तु का विचार नहीं करते हैं वे लबासी है, अर्थात् व्यर्थ की बकवास करने वाले है। अतः साधु-सन्तों को भी शुद्ध श्रद्धापूर्वक अपने चारित्र में दृढ़ रहते हुए, आध्यात्मिक साधना करनी चाहिये। यदि वैसा नहीं करते हैं, तो वे भी लबासी की श्रेणी में आ सकते हैं।

अरणक सेठ व्यापार के निमित्त जहाज में कई अन्य साथियों के साथ रवाना हुआ। समुद्र के बीच में किसी मिथ्यात्वी देव ने

को तैयार हूँ। जो नियमों के अनुसार चल रहा है, पंचमहाव्रतों का ठीक तरह से पालन कर रहा है, और सोचता है कि जहां तक शक्ति है मैं पालन करूँगा और उसके मुताबिक करता है, तो उसको रूढ़िवादी कहना कदापि उचित नहीं है। कवि का कहना है कि जिनकी श्रद्धा ठीक नहीं है उनकी धर्मक्रियाएँ छार पर राख पर लीपना ही है। राख पर लीपना चाहे तो क्या लीप सकता है ? और वह चाहे कुछ भी उत्कृष्ट क्रिया कर रहा है, मास-मास की तपस्या भी कर रहा है, फिर भी वह मोक्ष के फल को पाने में सक्षम नहीं है। क्योंकि सुश्रद्धान नहीं है। अतः कवि की भाषा में छार पर लीपने के सदृश है।

आध्यात्मिक सिद्धान्तों का आधार श्रद्धा है। श्रद्धा होने पर ही, धर्मक्रियाएँ सार्थक होती हैं। सिद्धान्तों के प्रति श्रद्धा न हो और उनमें युगानुकूल परिवर्तन की हिमायत करना कैसे उपयुक्त हो सकता है ? आपको मूल सिद्धान्तों में परिवर्तन करने का वीतरागदेव ने अधिकार दिया हो, तब तो कर सकते हैं। परन्तु किसी तीर्थकर ने इस बात का अधिकार नहीं दिया। जितने भी युगप्रधान आचार्य हो गए, उन्होंने भी मौलिक सिद्धान्तों में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं दिया है। आज भी मौलिक सिद्धान्तों में परिवर्तन का अधिकार किसी को नहीं है। परिवर्तन की बात करता है, तो क्या सिद्धान्तों के प्रति उसकी ईमानदारी है ? मैं कह गया हूँ कि मूल चीज — अहिंसा, सत्य, अस्तेय; ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं। ये आत्मा के धर्म हैं, आत्मा से प्रगट होते हैं। ये बनाए नहीं जाते हैं। उनकी तो सीमा बताई जाती है कि इस तरह से चलो। सूत्रों में विधि-विधान बताए गये हैं कि साधु इस रूप में चले और श्रावक इस रूप में चले। इसमें आमूलचूल परिवर्तन नहीं कर सकते हैं। परन्तु कछ लोग दो घोड़ों पर सवारी करना चाहते हैं। वे आध्यात्मिकता की बात करते हैं और मनमाने ढंग से भी चलना चाहते हैं। इस पर चिन्तन करना चाहिये। एक तरफ महाव्रतों का चोला पहिनकर भी चलते हैं और दूसरी ओर उनका भंग भी करते हैं, तो क्या यह प्रामाणिकता है ? एक ईमानदार

सोचो। मैं कह रहा हूँ, इसलिए उसको नहीं मानें। यदि शास्त्रसम्मत है, तो उसको स्वीकार करें। साधु—साधियों के लिये आनन्दघनजी ने कहा है कि देव, गुरु तथा सिद्ध भगवान के स्वरूप को, अरिहंतों ने बताया। वैसा ही समझना चाहिए। आपको समझ में नहीं आता है तो मखौल नहीं उड़ाना चाहिए और ऐसा सोचना चाहिये कि अभी हमारे समझ में नहीं आ रहा है। जब हम वहाँ पहुँचेंगे, तो वैसा समझेंगे। और यदि सिद्धान्त को समझने में कठिनाई आ रही है तो सबसे पहिले अन्य बात करने की अपेक्षा शुद्ध श्रद्धा करना आवश्यक है। यदि शुद्ध श्रद्धा नहीं है तो सारी की सारी मंजिलें ही ढीली हैं। धर्म की बात को शास्त्र के पन्नों से समझें। श्रद्धा की भूमिका को शुद्ध बना लिया, तो इस पर मोक्ष का महल खड़ा कर सकते हैं। परन्तु भगवान ने इस श्रद्धा को ही परम दुर्लभ बताया है। कहा है कि “सद्धा परम दुल्लहा”— श्रद्धा यदि डावांडोल है, तो कुछ नहीं। अंत में कहा कि श्रद्धा से मनुष्य जानता है— श्रद्धा से शास्त्र पर विश्वास करता है। यदि हरेक व्यक्ति समझने की क्षमता रखता है तो उसे समझने की चेष्टा करनी चाहिये और कमजोरी है समझने की और जितना समझने का उसका धरातल है, उसी धरातल पर समझना चाहिये। इस प्रकार जो चलते हैं, तो जीवन का सही निर्माण करते हैं। दुनिया चाहे कुछ भी कहे, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से चलें। दुनिया से उनको चंदा—चिट्ठा इकट्ठा नहीं करना है। पटे तो लें, नहीं तो नहीं लें। परन्तु आस्था से चलने वाले व्यक्तियों के लिए बात है कि सापेक्ष दृष्टि से बात हो तो स्वीकार करें। परन्तु बाजारू बातों के लिए कोई स्थान नहीं है। तो ये बातें शास्त्रीय दृष्टि से रख गया हूँ कि आध्यात्मिक धरातल पर श्रद्धा क्या होती है ? आनन्दघनजी की स्तुति को लेकर ये बातें कह गया। चरित्र भाग भी अधूरा न रहे, अतः थोड़ा—थोड़ा भाग आगे बढ़ावें।

प्रसंग यह चल रहा है कि एक गहस्थी में रहने वाली महिला अपनी स्थिति से कितनी धैर्यवती है ? कुछ पढ़े—लिखे भाई इस बहिन को परामर्श दे सकते हैं कि रहने दो बाईजी ! ये हमला करेंगे।

उनकी परीक्षा की ठानी कि यह वीतरागदेव के सिद्धान्त में कितना मजबूत है ? तो विकराल रूप बनाकर आया और कहने लगा कि तुम वीतरागदेव के धर्म को छोड़ दो और कह दो कि धर्म झूठा है। और यदि नहीं कहोगे तो मैं जहाज को आकाश में उछाल दूंगा और सब को समाप्त कर दूंगा। परन्तु अरणक दग्धर्मी था। वह यह कहने को तैयार नहीं हुआ कि धर्म झूठा है। वह देव जहाज को आकाश में ले गया और कहने लगा कि देख ! अब भी मान जा। मेरी बात मान ले। अन्यथा मैं जहाज को फेंकने वाला हूँ। यह देख सारे व्यक्ति कहने लगे कि अरे ! श्रावकजी ! थोड़ी देर के लिये कह दो न कि धर्म झूठा है और हिंसा में धर्म है। परन्तु बन्धुओ। कहा क्या उन्होंने ? नहीं, उन्होंने कहा कि यदि मेरे तन के टुकड़े—टुकड़े भी हो जाएँ, परन्तु मैं तीन काल मैं भी नहीं कह सकता कि धर्म झूठा है।

तो भाई ! इसको कहते हैं शुद्ध श्रद्धा। वे मिर्जापुरी लोटे की तरह श्रद्धा रखने वाले नहीं थे। हरेक में बह गए तो क्या जीवन है ? इस प्रकार के व्यक्ति जीवन का निर्माण नहीं कर सकते। शुद्ध श्रद्धा वही लाएगा जो सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ श्रद्धा बनाकर चलेगा। तभी वह कोई उपलब्धि प्राप्त करेगा। लोग कहते हैं कि इतने दिन हो गए साधना करते हुए, परन्तु कुछ नहीं मिला। ऐसी स्थिति में भी अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होना चाहिए। हरेक व्यक्ति को अपनी श्रद्धा में मजबूत होना चाहिये।

ये परिवर्तनवादी अपनी मनोकल्पित बात लेकर चल रहे हैं या भगवान की बात लेकर चल रहे हैं ? यदि वीतराग—सिद्धान्त के अनुसार चल रहे हैं तो उन्हें धन्यवाद देना चाहिए कि ये भौतिकवाद और रूढ़िवादिता में नहीं बहकर अपने नियमों का ईमानदारी से पालन कर रहे हैं ! यदि नियमों को भंग करने वाले को प्रश्रय देंगे, तो वे ढीले हो जायेंगे। इससे दूसरों में भी कमजोरी की स्थिति आएगी और स्वच्छन्दता का प्रचार—प्रसार होगा। मैं संकेत दे रहा हूँ कि आप भी इस आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँचे हो, तो थोड़ा चिन्तन कीजिए। देव, गुरु का श्रद्धान क्या है ! उसको तटस्थ भाव से

भव्यशीला उत्तेजित नहीं हुई। परन्तु मदुता के साथ कहने लगी कि, महानुभाव ! आप जो बोल रहे हैं, वह हृदय में तोलकर नहीं बोल रहे हैं। कोई भी सभ्य व्यक्ति नीति के नियमों का उल्लंघन नहीं करता। किसी महिला की इच्छा के बगैर उस पर जोर-जबरदस्ती नहीं करता। यदि कोई किसी महिला पर जोर जबरदस्ती करता है, तो वह मनुष्य मनुष्य नहीं, परन्तु पशु है इसलिए जरा आप सभ्य बनिए।

**सभ्य बनकर यहां नहीं आए, वैभव मद में भान भुलाए
मनुष्य रूप को धार, समता श्रेयस्कारी—**

राजन् ! आप शिष्ट तरीके से बात करिए। मन में विकार और ऊँचे-नीचे विचार आते रहते हैं। परन्तु मर्यादा भी कोई चीज है। आप जिस के सामने खड़े हुए हैं वह कुँआरी कन्या है, तो उसके सामने सभ्यता से बोलना चाहिए। विधि-विधान से बोलना चाहिए। नारी की इच्छा के बिना, उसको जबरदस्ती से आप अपने अधीन नहीं कर सकते ? जब कन्या, इस प्रकार बोली तो वह राजा कहने लगा कि तुम क्या कहती हो ! विधि-विधान मैं चाहूँ जो बना सकता हूँ। तो बाला ने कहा कि पहिले आप राज्य के विधि-विधान बदलिए। क्या आप यह नियम बनावेंगे कि कोई भी कन्या यदि उसके साथ शादी नहीं करना चाहे तो उस के साथ बलात्कार किया जा सकता है ? तो आप इन बातों को छोड़िए।

**पशुपन की बातें करना, व्यर्थ ही मन में मोद मनाना।
मानवता नहीं सार, समता श्रेयकारी।।**

राजन् ! माफ करना। ऐसी बातें मैं योग्य नहीं समझती हूँ। ये पशुपन की बातें हैं और व्यर्थ की बातें हैं। आप कोई बात सुनना नहीं चाहते और तरीके से मानना नहीं चाहते हैं। यह मनमानी है। मानवता का तकाजा नहीं है। यह मानवता नहीं दानवता है। जबरदस्ती से अपने विचार थोपना मानवता नहीं है। और—

और यों कहोगी, तो उनके शांति हो जाएगी। तो ऐसा परामर्श देने वाले मिल सकते हैं। परन्तु वह बाई दढ़ थी। उसने पिता को कह दिया कि मैं सब से निपट लूंगी। आप मेरे विषय में चिंता नहीं करें।

चरित्र

**समता श्रेयकारी, तू ले जीवन में धार।
अधिक बातें क्या करनी हैं, व्यर्थ समय को खोना नहीं
है।**

करना सब स्वीकार, समता श्रेयकारी।।

वह अधिपति, भूपति-मंडल का प्रमुख उस राजकन्या के पास पहुँचा और वार्तालाप कर रहा है। राजकन्या ने उससे कहा, कि आप जरा नीति। धर्म को दिल में लेकर चलिए। वह कहने लगा कि नीति-धर्म मेरे लिए कुछ नहीं हैं। ये सब मेरी मुट्ठी में हैं। ये व्यर्थ की बातें मत करो। तुमको जो कुछ कहना है, सो कहो। यदि तुमको मेरे साथ संबन्ध करना है, तो हां या ना में जवाब दो। मेरे पास भुजबल, सैन्यबल है, तो मैं उससे वश में करूँगा। तुम्हारे पिता के पास कितनी सेना है ? भूपति-मंडल मेरे साथ है। तुमको मेरे साथ चलना पड़ेगा। मेरी बात न मानकर अपना अहित कर रही हो।

राजकन्या भी सोचे मन में.....।

करना है सुधार, समता श्रेयकारी.....।।

इतनी विकट परिस्थिति में भी राजकन्या मन में सोचने लगी कि कैसी विचित्र विडंबना है कि वह मनुष्य होकर भी पशु जैसा आचरण कर रहा है। मनुष्य का धर्म क्या है ? यह भी नहीं जानता है। यह कहता है कि मैं जो बनाता हूँ, वही नियम है।

**प्रकट रूप में कन्या बोली, वचन बोली हृदय तोली।
सत्य तरीका धार, समता श्रेयकारी।**

लेकर चल रही हूँ, आप भी उसी मानवता के साथ बात करें। पहिले आप मानव बनिए और फिर बात करिए।

सती वचन में ओज भरा था, तत्त्व तेज का जोश भरा था।

सत्य किया विचार, समता श्रेयकारी।।

सती के वचन बड़े ही ओजपूर्ण थे। ओज तभी पैदा होता है, जब उसका आचरण स्वच्छ हो। तभी उसकी वाणी में तेज और जीवन में ओज आ सकता है। यह राजकन्या कुमारी थी, तरुणाई में थी। उसमें वासना की उच्छंखलता नहीं थी। उसके ओजस्वी वचन राजा के दिल पर छा गए। उसका विवेक जाग उठा। उसे अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप होने लगा। उसने मन में सोचा कि मुझे बचपन में अच्छे संस्कार नहीं मिले। इसका नतीजा यह हुआ कि मैं नीतिधर्म को लांघकर और विकारग्रस्त होकर एक राजकन्या से उसकी इच्छा के विरुद्ध विवाह करने के लिए यहां आ गया हूँ। इस राजकन्या के वचनों ने मुझे झकझोर दिया है। मुझे जगा दिया है। इन्हीं विचारों के चलते हुए वह किंकर्तव्यविमूढ़—सा हो गया और स्तब्ध—सा खड़ा हो गया। राजकन्या ने सोचा कि मेरे वचनों का इसके हृदय पर असर हुआ और किसी निर्णय पर पहुँच रहा है तो इसको सोचने देना चाहिये। वह उसका निर्णय सुनना चाहती थी। इष्टदेव का ध्यान करती है। निर्णय लेने की स्थिति में आती है। राजा अभी ध्यान में ही है। राजकन्या भी विश्राम लेने के इरादे से चुप हो गई है।

वह राजा चिन्तन कर रहा है। अब क्या प्रसंग उपस्थित होता

**मानवता प्रथम धर्म है, अन्य बातें सब ही बाद हैं।
नीति धर्म के लार, समता श्रेयकारी।।**

राजन् ! मानवता का पहिला तकाजा है कि नीति और धर्म को अपनाएं। यदि नीति नहीं तो, मानवता नहीं। नैतिकता जीवन में आवश्यक है। नीति के बाद धर्म की बात आती है। आप धार्मिक बनें या नहीं, नैतिक तो बनिए। फिर दूसरी बात करिए।

**जननायक वही बन पाता, नीति धर्म का महत्त्व बढ़ाता।
करता शुद्ध विचार, समता श्रेयकारी।।**

राजन् ! जननायक भी वह बन सकता है, जो नीतिमान हो। जनता का हितैषी नायक वही बन सकता है जो नीति और धर्म को महत्त्व देता है, यदि वह समाज का नेता बने तो वह नीति—धर्म को ऊपर उठाता है। और जो उसके विपरीत चले, जो नैतिकता का मखौल उड़ाए, अनाचार का आचरण करे, वह जनता का नेता नहीं बन सकता है। जो नैतिकता के आधार पर चलता है उसे जनता चुनकर आगे भेजती है। आप राजा हैं। राजा का कर्तव्य नीतिपूर्वक राज्य का संचालन और प्रजापालन करना होता है। आप नीति की अवहेलना कर चल रहे हैं। यदि राज्य की प्रजा यह जानेगी कि राजा अनीति पर चल रहा है, तो संभव है कि वह प्रजा राजा के प्रति विद्रोह कर बैठे !

**मानव धर्म का लक्षण पावे, पशुवृत्ति को दूर हटावे।
बने योग्य निरधार, समता श्रेयकारी।।**

राजन् ! आप अन्य—अन्य बातें कर रहे हैं, परन्तु सबसे पहिले मानव धर्म का शिक्षण लें। मानव का जीवन कैसा होना चाहिए ? उसमें कैसे संस्कार होने चाहिये ? उसकी वाणी का व्यवहार कैसा होना चाहिए ? और वह कैसे चले ? इन चार बातों का ज्ञान करलो। ये बातें आपके लिए हितकारी हैं। मैं आपकी बहिन बनकर कह रही हूँ। आप मेरे साथ यदि बात करना चाहते हैं, तो मैं जैसे मानवता को

प्रतीक हैं। अनन्तनाथ भगवान की उस अद्भुत ज्योति का, उनके स्वरूप का, ज्ञानीजन वर्णन करते-करते थक जाते हैं। वे अंत नहीं पाते। इसके लिये कवि विनयचंद्रजी ने भी अपनी भावना इस प्रकार व्यक्त की है—

**अनन्त जिनेश्वर नित नमूं, अद्भुत ज्योति अनूप।
ना कहिए ना देखिए, जांके शब्द न रूप।।**

अनन्त गुणों के स्वामी और ज्योतिपुंज परमात्मा के गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता। उनका न तो शब्दों द्वारा कथन ही किया जा सकता है और न आंखों से ही देखे जा सकते हैं। ऐसे परमात्मा के स्वरूप को समझकर, उनकी सेवा के प्रसंग से, कोई भी भक्त भगवान की भक्ति करना चाहे, तो वह किस रूप से करे ? इधर आनन्दघनजी ने कह दिया कि परमात्मा की सेवा तलवार की धार से भी कठिन है। फिर भी उसके कुछ उपाय हैं। उन्होंने संकेत दिया कि सब से पहिले उस परमात्मा के स्वरूप को, लक्ष्य रूप में समझा जाए। इस लक्ष्य को सम्यक् दर्शन की प्राप्ति के बाद ही ठीक तरह से समझा जा सकता है। सम्यक् दर्शन से ही परमात्मा की सेवा प्रारंभ होती है। शुद्ध श्रद्धा, परिपूर्ण विश्वास परमात्मा के वचनों में हो और अपने स्वरूप को वह परमात्मा के तुल्य समझे और यह सोचे कि मैं वर्तमान मैं क्या हूँ ? भविष्य में यदि मैं परमात्मा के तुल्य बनूंगा, परन्तु कैसे बनूंगा ? परमात्मा बनने के लिये यह मनुष्य तन मिला है। मैं सब से पहिले परमात्मा बनने के लिए सम्यक्दृष्टि भाव को जगाऊँ। यदि कोई पूछे कि जिस सम्यक्त्व के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, उस समकित की पहिचान क्या है ? साधारण से साधारण व्यक्ति को इस विषय का ज्ञान तो होना चाहिये। कैसे मालूम हो कि किसी व्यक्ति को सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है ? इसके लिए शास्त्रकारों ने सम्यक्त्व के पांच लक्षण बताये हैं, जिनके द्वारा सम्यक्त्व व्यक्त होता है। वे लक्षण हैं— शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य। यदि व्यक्ति के व्यवहार में ऊपर बताये हुए लक्षण

है, यह आगे की बात है। यह कथा चारित्रानुयोग से संबन्धित है। इसमें चारित्र धर्म की कसौटी है। वीतगदेव ने चार अनुयोगों से शास्त्र की प्ररूपणा की है। द्रव्यानुपयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग और धर्मकथानुयोग। कथानुयोग से सिद्धान्त की बातें उन साधकों के जीवन चरित्र का वर्णन करके बताई जाती हैं, जो गहस्थाश्रम में रहे और साधना करके जीवन को ऊँचा उठाया। गहस्थ संबन्धी बातें जब कथा के रूप में आती हैं, तो सर्वसाधारण जनता कथा के माध्यम से उनमें रस लेती है और अपने चारित्र को भी धर्म की बातें सुनकर उन्नत बनाने का प्रयास करती है।

इत्यलम्

सम्यक्त्व और उसके लक्षण

प्रार्थना

**धार तरवारनी सोहेली, दोहेली, चौदमां जिण तणी चरण सेवा।
धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवानां धार पर रहे न देवा।।
देव गुरु धर्म नी श्रद्धा कहो किम रहे, किम रहे शुद्ध श्रद्धान आणो।
शुद्ध श्रद्धान बिण सर्व क्रिया करी, छार पर लीपणु तेह जाणो।।**

बंधुओ ! अनन्तनाथ भगवान की प्रार्थना की कड़ियां आपके समक्ष रखी गई हैं। चौदहवें तीर्थकर का नाम अनन्तनाथ है। यह उनकी स्तुति है। दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो जितने भी वीतराग दशा में पहुँचने वाले महापुरुष हैं, वे चाहे तीर्थकर हों, सामान्य केवलियों के रूप में हों या किसी भी वेषभूषा के साथ रहते हुए जिन्होंने आत्मा का आखिरी लक्ष्य पा लिया और जिन्होंने आत्मा का शुद्ध स्वरूप पा लिया, ऐसे सब परमात्माओं को अनन्तनाथ परमात्मा कह सकते हैं। क्योंकि यहां अनन्तनाथ परमात्मा सब परमात्माओं के

को देव के रूप में मान्य करके, उनके प्रति अटूट श्रद्धाशील होता है। उसका दृढ़ विश्वास होता है कि अरिहन्तों का उपदेश, मानव जाति के लिए ही नहीं, परन्तु प्राणिमात्र के लिए, सुख और शान्ति का संदेश—वाहक होता है। उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्व ही यथार्थ है, सत्य है, तथ्य है। उनके द्वारा प्ररूपित समता सिद्धान्त ही वास्तविक धर्म का मर्म है। समता में अटूट विश्वास और विषमता से परे रहने की वृत्ति सम्यग्दर्शन वाले व्यक्ति में होती ही है।

वह सम्यग्दर्शनी वीतरागदेव के द्वारा प्ररूपित श्रुत और चारित्र धर्म को ठीक तरह से समझता है। वह मानता है कि अरिहंत ने मुझे मार्ग बताया और सिद्ध मेरे आदर्श रूप हैं। अरिहंत ने जो मार्ग बताया है, उस पर मैं स्वयं चलूंगा; स्वयं पुरुषार्थ करूंगा; व्रत—नियमों को अंगीकार करके साधना की पराकष्टा पर पहुँचूंगा तो मैं भी एक दिन सिद्ध हो जाऊँगा। यह सम्यक्दृष्टि भावना का रूप है। अतः सबको साचना चाहिये कि हम सम्यक्दृष्टि हैं या नहीं ? इसके लिये शास्त्रकारों ने परीक्षा बताई है— सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था — ये सम्यक्त्व के चिह्न हैं। इनके साथ वह भक्त अपनी श्रद्धा लेकर चल रहा है और यह सोच रहा है कि जब भी सिद्ध अवस्था प्राप्त होगी, तो त्याग और वैराग्य के भावों से ही होगी। पंचमहाव्रतों को अंगीकार करके ही परिपूर्ण साधना की जा सकेगी। गहस्थाश्रम में रहता हुआ श्रावक, पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को धारण करता है, परमात्मा पर विश्वास करता है तथा अपने आत्मस्वरूप को भी इसी रूप में देखने की लालसा हो, वह प्रतिदिन यह महसूस करे कि मैं भी सिद्ध भगवान के तुल्य बन जाऊँ। मैं अभी इस स्वरूप को नहीं प्राप्त कर पा रहा हूँ, फिर भी आहिस्ता—आहिस्ता आगे बढ़ूँ। इस प्रकार के भाव मन में रखे, तो वह सम्यक्दृष्टि है। ऐसे पुरुष का समकित शुद्ध श्रद्धान कहलाता है। वह समकित भी आठ आचारों से युक्त होती है। ऐसे मनुष्य की विशिष्ट आचार संहिता होती है, नैतिकता के नियम होते हैं। सम्यक्दृष्टि आत्मा के आठ आचार बताए गए हैं। यदि उन आचारों का वह

प्रतीत होते हैं, तो समझना चाहिए कि उसे सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है। श्रावक व्रत अंगीकार करने के पहिले सम्यक्दृष्टि जीव का व्यवहार ऐसा स्पष्ट होना चाहिये कि जिससे हर किसी को ज्ञात हो जाए कि यह सम्यक्दृष्टि आत्मा है। यह भगवान की भक्ति करने वाला, भक्त, परमात्मा के ऊपर विश्वास रखकर चलने वाला है। ऐसी वृत्ति जिसके अंदर आती है वह मोक्ष की पहली सीढ़ी पर चढ़ता है।

सिद्ध भगवान अनन्त ज्योतिस्वरूप, अनन्त गुणों के स्वामी हैं। उन सिद्ध भगवान के गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता। परन्तु सब गुणों का समावेश आठ कर्मों की स्थिति हटने से प्रकट होने वाले आठ गुणों में हो जाता है। इसलिये सिद्धों के जो आठ गुण बताए गए हैं, वे अनन्त गुणों के प्रतीक हैं। अनन्त गुणों की सूचना देने वाले हैं। ऐसे सिद्ध परमात्मा के स्वरूप को सम्यक्दृष्टि आत्मा समझे। सिद्ध परमात्मा कभी भी इस पृथ्वी पर अवतरित नहीं होते। मनुष्य लोक में आकर शरीर धारण नहीं करते। वे पुनः कर्मबंधन से लिप्त नहीं होते। वे सदा—सदा के लिये सत्—चित् आनन्दमय स्वरूप में रमण करते रहते हैं। यह सिद्ध भगवान का स्वरूप जिसने अपने मस्तिष्क में जमाया, उसके मन में अंकित हो गया। सिद्धों की स्थिति पाने के पूर्व वे आत्माएं अरिहन्त और केवली के रूप में इस भूमण्डल पर विचरण करती हैं। उन आत्माओं ने उत्कृष्ट साधना के द्वारा केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त किया। जिसके फलस्वरूप वे चराचर जगत् के सब स्थूल और सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों को भी जान सकते हैं। वे तीनों लोकों को हाथ में रहे हुए आवंले की तरह जानते हैं। दुनिया का कोई रहस्य उनसे छिपा नहीं रहता है। इस प्रकार सर्वज्ञ—सर्वदर्शी बनने के पश्चात् वे जगत् के जीवों के कल्याण के लिए प्रवचन द्वारा मोक्षमार्ग प्रदर्शित करते हैं। वे अनन्त करुणा के सागर, परम कृपालु, वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आत्माएं निस्वार्थ भाव से जगत् के जीवों को ही मार्ग बताते हैं। इसीलिए सम्यग्दृष्टि आत्मा उन अरिहन्तों और केवलियों को सिद्धों की तरह ही आराध्यदेव मानती है। इस प्रकार सम्यग्दर्शनसम्पन्न व्यक्ति सिद्धों और अरिहन्तों

नहीं है। अब कोई पूछ ले कि, आप सम्यक्दृष्टि हैं, इसका क्या प्रमाण है ? यदि इसकी माहिती नहीं रहेगी तो क्या उत्तर देंगे ? तो कहेंगे कि हां ! साहब ! हम कुछ नहीं जानते हैं। तो आपकी क्या शोभा रहेगी ! यदि मोक्ष में ले जाने वाली कक्षा के विषय में समझना चाहते हैं, तो यह प्रथम कक्षा है— सम्यक्दृष्टि भाव की। इसको जाने बिना आप मोक्ष की आगे की कक्षाओं में प्रविष्ट नहीं हो सकते। कभी—कभी मनुष्य सरल भाव से यह सोच लेता है कि नमस्कार मंत्र के ये पद बहुत अच्छे हैं, तो 'श्री' लगा है ! जैसे कि मनुष्य नाम के पहिले 'श्री' लगाते है। परन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि तुम इन पांच पदों के पहिले 'श्री' मत लगाओ। उनके पहिले अपने मन से कुछ भी मत जोड़ो। तो प्रश्न हुआ कि क्यों नहीं जोड़ें ? तो कहा कि इसलिये मत जोड़ो, क्योंकि उसमें हमारी समकित का सवाल है। अरिहंतों में हमारा अटूट विश्वास है। क्या वे केवलज्ञान, केवलदर्शन वाले थे या नहीं ? क्या वे परिपूर्ण थे या अपूर्ण ? उन्होंने महामंत्र नमस्कार का उच्चारण किया है और यह सम्पूर्ण जैन समाज इस को मान्यता देता है। जैन कोई जाति नहीं है ! जो भी कोई राग, द्वेष को जीतना चाहे और समता के धरातल पर आना चाहे, उसका इसमें समावेश है। ऐसे तीर्थंकर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं। दुनिया की अनेक लिपियों में शास्त्र निर्मित हैं। वे उनके ज्ञान में झलक रहे थे। दुनिया के हित के लिये जो 'णमो अरिहंताणं' सूत्र दिया, उसे उसी रूप में उच्चारण करें। कोई जाप करने वाला व्यक्ति सोचे कि मैं इसके पहिले कोई दूसरा शब्द जोड़ दूं। शब्द जोड़ने की भावना है, उसे वह समझ पाया या नहीं, परन्तु प्रकारान्तर से मालूम होगा कि वस्तुतः 'णमो अरिहंताणं' में उसने कुछ कमी महसूस की है, तभी तो शब्द की पूर्ति कर रहा है। उसमें यह बात तो सीधी मालूम पड़ती है, परन्तु इतनी—सी बात में भी, उसका शुद्ध श्रद्धान नहीं रहता। शुद्ध श्रद्धान के अभाव में वह चाहे कितनी ही क्रिया करे, परन्तु जो फल उसे मिलना चाहिए, वह नहीं मिल पाता। क्योंकि ऐसी भावना आना उनकी अवज्ञा करना है। एक एम.ए अध्यापक ने प्रथम कक्षा के एक

पालन करता है। तो उसके मन, वचन, काया के सब व्यवहार सम्यक्दृष्टि को बल देने वाले बनते हैं। पहिला आचार बताया—'निश्शंकी'। वह सम्यग्दृष्टि जिन वचनों में किसी प्रकार की शंका नहीं करे। मैं ऐसा सम्यक्दृष्टि भाव रखकर चल रहा हूँ, श्रावक व्रत का पालन कर रहा हूँ सामायिक और पौषध कर रहा हूँ, साधु—जीवन की आराधना करने की मेरी भावना है, इसमें मेरा अटूट विश्वास है, इसमें जरा भी मुझे शंका नहीं है।

इस प्रकार जिन-वचनों के प्रति उसकी कोई शंका नहीं होती है। नवकार मंत्र के प्रति उसकी गहरी आस्था होती है। इस नमस्कार महामंत्र के द्वारा पंचपरमेष्ठियों को नमन किया गया है। उनके प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति व्यक्त की गई है। यह नमस्कार मंत्र व्यक्तिपरक न होकर गुणपरक है। इसमें किसी व्यक्ति-विशेष का उल्लेख नहीं है, अपितु गुणों का ही उल्लेख है। जो इन गुणों से युक्त हो, वह चाहे कोई भी हो, किसी भी पक्ष का हो, किसी भी सम्प्रदाय का हो, किसी भी दर्शन का हो, वह नमन करने योग्य है। यह मंत्र गुणों के साथ व्यक्ति को संबन्धित करता है। गुण स्वतंत्र नहीं रह सकते हैं। गुणों का कथन जरूर होता है परन्तु गुण गुणी में ही रहते हैं। गुणों का कथन करने से गुणवान का कथन हो जाता है। ऐसी पांच गुणवान आत्माओं को इसमें नमन किया गया है। इसमें विश्व के समस्त मंत्रों का सार समाहित कर दिया गया है। इस मंत्र का शुद्ध रूप में जाप करें। इस में जरा भी अशुद्धि का प्रवेश नहीं हो। मंत्र जिस भाषा में हो, उसमें ही उच्चारण हो। प्राकत में हो तो प्राकत में ही उच्चारण करें। प्राकत में भी दो रूप हैं— एक 'णमो अरिहंताणं' पांचों पदों में 'णमो' लगा है— और दूसरे रूप में 'नमो' पांचों में लगा है। विशेष प्रचलित 'णमो' है— वही बोलना चाहिए। इन पांच पदों के साथ अन्य मंत्राक्षरों को जोड़ने की चेष्टा नहीं करना चाहिए। जैसे ओम् ह्रीं श्रीं या बीजाक्षरों को जोड़कर पांच पदों का उच्चारण नहीं करना चाहिए और उन पांच पदों के पीछे 'श्री' भी नहीं रहता। कई बोलते हैं। श्री णमो अरिहंताणं, तो ऐसा बोलना शास्त्र सम्मत

अनन्त केवलज्ञानियों के आशय को तो केवलज्ञानी ही समझ सकते हैं। केवलज्ञानियों का आशय तो वे ही जानते हैं। आपने जो भावना रखी, तो हम समझते हैं कि आपकी श्रद्धा में कुछ कमी आ गई है और आपने अरिहंतों के सिद्धान्तों में कुछ न्यूनता समझी, इसलिये दोष के भागी बने। इसलिए आप चतुर्विध संघ से बाहर रहिए और बारह वर्षों के बाद फिर किसी नरेश को बोध देकर प्रायश्चित्त करके शुद्ध होइए। आचार्य ने भी चतुर्विध संघ की भावना को शिराधार्य करते हुए, उसका प्रायश्चित्त किया। बारह वर्ष तक वे संघ से अलग रहे और परिर्माणन करके संघ में शामिल हुए।

बंधुओ ! उस समय का चतुर्विध संघ श्रद्धा में कितना दृढ़ था ! आप थोड़ी-सी भावात्मक दृष्टि से सोचिए ! आप भी चतुर्विध संघ में हैं। आप वीतरागदेव के सिद्धान्त को उसी रूप में समझने की सोचते हैं या उसमें कुछ परिवर्तन करने की सोचते हैं ? सिद्धान्त के महत्त्व को नहीं समझने के कारण, मेरे कई भाई प्रतिक्रमण के लिये कहते हैं कि यह प्रतिक्रमण प्राकृत में है, हम नहीं समझते हैं, तो हिंदी में क्यों न कर दिया जाए ? तो कहिए ? क्या शास्त्रकार हिन्दी नहीं जानते थे ? उन्होंने प्रतिक्रमण को प्राकृत में क्यों रखा ? यदि आपको समझ में नहीं आता है, तो आप मेहनत भी नहीं करना चाहते। अरे ! अंग्रेजी को समझने के लिये कितनी रट लगाते हैं ! कितनी स्पेलिंग याद करते हैं ! फिर भी समझ नहीं पाते हैं। उसके लिये तो आपको समय मिल जाता है। मेरे भाई प्रतिक्रमण को समझने के लिए परिश्रम नहीं करते हैं।

मैंने कहा कि प्राकृत ऊपर रखें और उसके साथ हिंदी में भी उच्चारण करें। परन्तु इसको हटाना उनका अपमान करना है। यह नहीं होना चाहिए ? मेरे भाई भावावेश में आकर ऐसे भावों में बह जाते हैं और परिवर्तन के लिये उतावले हो जाते हैं परन्तु वे नहीं समझते हैं कि इस प्रकार की भावना से उनकी समकित शुद्ध रहेगी या नहीं रहेगी ? साथ में कभी ऐसी बात भी कह बैठते हैं कि महाराज सा. ! समय के अनुसार परिवर्तन कर लेना चाहिये। समय

विद्यार्थी को एक वाक्य लिखकर दिया। अब प्रथम कक्षा का विद्यार्थी, उस एम.ए. अध्यापक के द्वारा लिखे हुए वाक्य में यदि कोई मात्रा जोड़ता है तो वह क्या समझता है कि इसने त्रुटि कर दी तो मैं इसकी पूर्ति करता हूँ ? तो जब एक विद्यार्थी भी ऐसी गलती नहीं करता है, तो फिर सम्यक्दृष्टि आत्मा को तो ऐसी गलती करनी ही नहीं चाहिए। हां ! यदि कोई अलग से मंत्र बनाना है, तो अलग से बनाकर बोल सकता है। परन्तु इन पांच मूल पदों में तो कुछ भी नहीं जोड़ना चाहिए। और शुद्ध रूप में उनका उच्चारण होना चाहिए। जब आप जाप करने को बैठें, तो निश्शंकित भाव से जाप करें - शंका नहीं करें। नमस्कार मंत्र के अक्षरों में फेरफार न करने के विषय में भी सिद्धसेन दिवाकर का प्रसंग ध्यान में रखने योग्य है। प्रसिद्ध आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर बहुत ख्यातिप्राप्त एवं उस समय के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने कई ग्रंथ लिखे थे। जिन-शासन की खूब सेवा की थी। उनके मन में यह भावना जागी, कि नमस्कार महामंत्र प्राकृत भाषा में है, और वर्तमान में संस्कृत भाषा प्रचलित भाषा है। इसलिए क्या ही अच्छा हो कि नमस्कार मंत्र को मैं संस्कृत भाषा में परिवर्तित कर दूं। परन्तु यह भी सोचा कि इस नमस्कार मंत्र को संस्कृत में बनाने का मुझ अकेले को अधिकार नहीं है। जब उस समय वे समर्थ आचार्य कहलाते थे। उन्होंने अपनी भावना को चतुर्विध - संघ के सामने रखा। संघ के जो साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका थे, उनके सामने प्रस्ताव रखा कि मैं आप सबकी आज्ञा से इस नमस्कार महामंत्र को संस्कृत भाषा में परिवर्तित करना चाहता हूँ। उस समय का चतुर्विध संघ भी आस्थावान् था। सिद्धान्तों का ज्ञाता था, सम्यक्दृष्टि भावों में निश्शंकित था, उसकी अरिहंत भगवान् में अटूट श्रद्धा थी। उन्होंने आचार्यश्री को नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि भगवान् ! आप इस प्रकार की भावना क्यों लाए ? क्या अरिहंत भगवान् संस्कृत नहीं जानते थे ? जो संस्कृत में मंत्र नहीं देकर प्राकृत में दिया ? उनके केवलज्ञान का जो महत्त्व है, उसको आप नहीं समझ पाते हैं, हम भी नहीं समझ पाते हैं। क्योंकि

आडम्बरों को देखकर और उनकी महिमा-पूजा आदि होते देखकर, उनको अपना करने की आकांक्षा नहीं करना चाहिए। सम्यग्दृष्टि जीव इस प्रकार की आकांक्षा नहीं करता। इस प्रकार की आकांक्षा करने से सम्यक्त्व मलिन होता है। आजकल धर्म की आड़ में कई प्रकार के सांस्कृतिक प्रोग्राम किये जाते हैं। ये सांस्कृतिक प्रोग्राम धार्मिक कम होते हैं और रागरंग के प्रेरक होते हैं।

आजकल के सांस्कृतिक प्रोग्राम में क्या होता है ? उसके नाम से नाच, गान होता है। विकारी हाव-भाव दिखाए जाते हैं। उत्तेजक वेशभूषा होती है। यह संस्कृति नहीं, विकृति है। इससे पाप और विकार भाव की वृद्धि होती है। मोह का पोषण होता है। मानव उसमें मशगूल हो जाता है और सोचता है कि धर्म तो यही है। इसको धर्म समझकर उसकी आकांक्षा करना समकृति के लिए दोष माना गया है। आप तटस्थ भाव से चिन्तन करें। समकृति अपने धर्म में ही दृढ़ होता है।

रात्रि में एक प्रश्न चल पड़ा कि पंडित कौन है ? दुनिया के अंदर बहुतेरे पंडित कहलाते हैं। उनकी पहिचान क्या है ? संस्कृत, प्राकृत और षट्दर्शन आदि की जिसे अच्छी तरह जानकारी हो तो क्या उसे पंडित कहा जाता है ? जब यह प्रश्न श्रीकृष्ण के सामने आया, उन्होंने उत्तर दिया कि :-

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि

शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः॥

श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन ! तुम केवल लच्छेदार भाषाओं से बोलने वाले और ऊपर की पंडिताई को देखकर मंत्रमुग्ध मत हो जाना। यह तो अक्षरीय ज्ञान है। केवल अक्षरीय ज्ञान से ही कोई पंडित नहीं होता। परंतु पंडित वह होता है जो विद्या-विनय से संपन्न हो। ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, श्वान में और चांडाल में समदर्शी अर्थात् उन सब में समभाव रखता हो। ऐसा समदर्शी ही पंडित होता

के अनुसार परिवर्तन किसका होगा ? उदाहरण के लिये मनुष्य का जो जीवन है, इसमें मूल चीजें कितनी हैं ? आपको मालूम है क्या ? यदि नहीं मालूम है, मैं बताता हूँ। आंखें, नाक, कान, शरीर, त्वचा आदि ये सब हैं, ये मूल हैं। जैसे अभी मनुष्य के आंख, नाक, कान आदि हैं, वैसे ही सौ वर्ष पहिले भी वही थे। जब से जन्म हुआ, तभी से आंख, नाक, कान उसी स्थान पर हैं। सतयुग में भी वही थे और कलियुग में भी वही हैं। परन्तु समय बदला, राज्य व्यवस्था बदली, वातावरण बदला, वैज्ञानिक युग आया, चरित्र बदला, पढ़ाई बदली, तो क्या समय के अनुसार आंख, नाक, कान भी बदलें ? कभी यह प्रश्न तो नहीं किया गया कि समय बदल गया है, तो आंख उठाकर सिरपर और कान पीछे कर लिये जायें ? जैसे मनुष्य के मूल शरीर के अवयवों का परिवर्तन नहीं होता, वैसे ही सम्यग्दृष्टि श्रावक और साधु के लिये समता भाव में कोई परिवर्तन नहीं होता। पहिले कैसा था और आज समता भाव कैसा है ? और कल कैसा रहेगा ? समय के अनुसार क्या समता में परिवर्तन आ जाएगा समय के अनुसार क्या अहिंसा हिंसा हो जायेगी ? क्या कभी, सत्य असत्य होगा ? ये समय के अनुसार परिवर्तित नहीं होते। हां ! परिवर्तन ऊपर के लेबिलों का हो सकता है। पहिले पगड़ी; धोती, कुर्ता पसंद करते थे। परन्तु समय बदला तो पगड़ी उतरी, टोपी आई और टोपी भी उतरकर बाल आ गए यानी नंगे सिर रहना पसंद करने लगे। परन्तु मूल स्वरूप में परिवर्तन नहीं होता है। जहां मानव का मूल स्वरूप है, श्रद्धा का स्वरूप है, उसमें समय को देखकर शंका नहीं करनी चाहिये। शंकारहित होकर यह सोचना चाहिए कि मुझ से आज साधना नहीं हो सकती है, तो जितनी साधना होवे, उतनी करूं। परन्तु यह शंका नहीं करें कि कौन जाने यह अच्छी है या नहीं ? ढाई हजार वर्षों में मौलिक बातें अपरिवर्तनीय रही और कुछ बातों में परिवर्तन भी हुआ। शास्त्रकारों ने इन बातों का बहुत बारीकी से विश्लेषण किया है। सम्यक्त्व का दूसरा आचार 'णिकंखिए' है। इसका अर्थ है 'निष्कांक्षीय' होना। अन्य मतावलम्बियों के विविध

चरित्र

समता श्रेयकारी, तू ले जीवन में धार।
विवेक विकलता आई उसमें, करी गर्जना भरा जोश
में।
बढ़ता है तत्काल, समता श्रेयकारी।।

भव्यशीला ने सम्यक्दृष्टि भाव को समझा और उसी भाव में चलने लगी। जब उस पर आपत्ति आई, आपत्ति भी ऐसी बेढंगी कि आततायी राजा लोग मोहित बन कर उसे पाने की चेष्टा कर रहे थे। उनको समझा कर भव्यशीला ने छः माह के लिये उन राजा-महाराजों को अपने-अपने स्थानों पर भिजवा दिया, और छः माह की अवधि पूर्ण होने पर सबके पास अलग-अलग तिथि पर आने के अनुरोध-पत्र भेज दिये। सबसे पहिले राजा पहाड़सिंह को बुलाया। वह यथासमय आ गया। यह सारा प्रसंग आपके सामने रखा जा चुका है। जब भव्यशीला ने सत्य-सत्य बात कही कि आप राजनपति राजा हो। आप मानवता के संस्कार लीजिए और पशुता के संस्कार छोड़िए। बात सही कही। परन्तु संस्कार लेने की बात उसी को सुहा सकती है जो व्यक्ति जिज्ञासु हो।

इधर राजा भी दढ़ है। उसने सोचा कि इसने शरीर को कश बना दिया है तो कोई बात नहीं। मैं शादी होने के बाद अपने यहां खूब पौष्टिक वस्तुएँ खिलाऊँगा और यह वैसी ही चंगी (स्वस्थ) बन जाएगी। यह मेरे मन के अनुकूल बात करे, यही सुनने की उसकी आकांक्षा थी। परन्तु भव्यशीला ने सोचा— यह पशुवृत्ति है। मानववृत्ति नहीं। वह कठोर जरूर बोल रही थी, परन्तु उसकी भावना उसको सुधारने की थी। जब बुखार ज्यादा बढ़ जाता है, तो कुनैन की कड़वी गोलियां दी जाती हैं। मलेरिया के समान, जब मानव की मानसिक वृत्ति दूषित हो जाती है, उस वक्त कठोर शब्दों का प्रयोग किया ही जाता है। भव्यशीला की बातें उस राजा के मन को

है। पंडित का यह लक्षण जानने पर मनुष्य चकरा जाता है कि साहब ! ऐसे लक्षण वाला पंडित कहलाये, तो हमारी पंडिताई की पदवियां चली जायेंगी।

देखिए ! चार पंडित थे। उन्हें बुखार आ गया। किसी ने उन्हें गेहूँ का लूखा फुलका खिलाया। वे लूखे फुलके उन्हें कड़वे-कड़वे लगे। अब चारों पंडित बैठकर गेहूँ की परिभाषा करने लगे कि गेहूँ का फुलका कैसा होता है ? कड़वा होता है। अब यह परिभाषा यदि वे करते हैं तो क्या गेहूँ की ठीक परिभाषा करते हैं ? उनको क्या हो गया था ? उन्हें बुखार था, इसलिये कड़वे लगे। बुखार के कारण गेहूँ की परिभाषा उन्होंने गलत की इसी तरह आज के पंडित हैं, विद्वान हैं और अक्षरीय ज्ञान की दृष्टि से चल रहे हैं, क्या वे इसलिये पंडित हैं ? वास्तविक पंडित वही है, जो सम्यक्दृष्टि भाव से चलता है, विषम भाव नहीं रखता है, शंका नहीं करता है और आकांक्षा नहीं करता है। जो इस दृष्टि से चल रहा है, वह व्यक्ति सबको समभाव से देखने की भावना रखता है।

ये दो आचार मैं संक्षिप्त रूप से कह रहा हूँ। दुनिया की अच्छी से अच्छी मनोहरी चीज हो, परन्तु समदृष्टि उससे ललचाता नहीं। वह उसकी आकांक्षा नहीं करता। वह सम्यक्दृष्टि अडोल होकर चलता है। इतने दिन सामायिक करते-करते हो गए तो भी कुछ नहीं मिला। भगवान के दर्शन नहीं हुए, तो भक्ति क्यों करूँ ? इस दृष्टि से जो चलता है, वह क्या समदृष्टि होगा ? उसकी सारी क्रियाएँ व्यर्थ जाएंगी। यदि वह सम्यक्दृष्टि से रहित होकर, क्रिया करता है तो, वह छार पर लीपने के समान है।

आप चिंतन करें कि आपकी क्रियाएँ समकित से युक्त हैं या नहीं ? आपमें समभाव का कितना विकास हुआ है ? आप शुद्ध सम्यक्त्व को समझें और वीतराग के वचनों को तथ्य और सत्य मान कर निश्चिंत और निष्कांक्षित बनें। अभी समकित के दो आचारों का ही वर्णन किया है। शेष आचार आगे कहे जावेंगे। अब भव्यशीला के चरित्र को आगे बढ़ता हूँ।

होकर व्यवहार करने लगा। उसको पकड़ लिया और जेल में रख दिया।

**राज्य अपराधी जब बन जाता, पुलिस लोगों का कार्य बनता।
कार्य वही निराधार, समता श्रेयकारी।।
बात पहुँची निजी राज्य में, कहा नैतिकता होती तन में।
करे कई विचार, समता श्रेयकारी।।**

उस राजा को जेल में रख दिया और पहरा लगा दिया। और कह दिया कि यह राज्य का अपराधी है। उस राजा के साथ जो लोग आये थे वे अपने राज्य में लौट गए। उन्होंने आपस में विचार किया और कहने लगे कि हमारे राजा तो पकड़े गए हैं। सब आक्रोश में थे। उन्होंने अपने मित्र राजाओं से मिलकर सब की इकट्टी सेना के द्वारा भव्यशीला के पिता—राजा की राजधानी को रौंद डालने की योजना बनाई और अपने राजा को छुड़वाने के हरसंभव प्रयत्न करने का निर्णय लिया।

उनमें एक चिंतक पुरुष था। वह कहने लगा कि हम सब राज्य के कर्मचारी हैं। परन्तु हमें समाज का भी अवलोकन करना चाहिये कि जनता का सहयोग अपने साथ है या नहीं। राजा के प्रति जनता की भावना कैसी है ? यदि जनता यह चाहती है कि हमारे स्वामी को छुड़ाया जाए, तो यह कार्यवाही ठीक रहेगी। और नहीं है, तो अपना चढ़ाई करना ठीक नहीं रहेगा। जनता का सहयोग है, तब तो जननायक कार्य कर सकता है और जनता का सहयोग नहीं है, तो कोई भी कार्य नहीं कर सकता है। तो जनता की राय लेना

प्रतिकूल लगीं। वह विवेक खो बैठा और कहने लगा कि तू किसके सामने बोल रही है ? अरे ! छोटे मुंह, बड़ी बात कह रही है ! मुझे संस्कार देना चाह रही है ? बस, जो समझ लिया वह समझ लिया। मैं इससे विपरीत नहीं सुनना चाहता। ऐसी बातें दुनिया में होती हैं। परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि ऐसी बात किसी में नहीं होनी चाहिये। चक्रवर्ती सम्राट् छः खंड के स्वामी, जिनको कोई आंख उठाकर देखने वाला नहीं है, जब वही सम्यक्दृष्टि भाव से सोचते हैं कि यह समय बार—बार मिलने वाला नहीं है। मुझे अब अनन्त ज्योति को प्रकट कर लेना चाहिये। तो राज्य को टुकरा कर साधु बन जाते हैं। उनका पूर्व अभ्यास तो आदेश देने का था। नौकर—चाकरों को जैसे पहले बुलाते थे वैसे ही बुलाने की आदत थी। परन्तु परिवर्तन हो गया। और कहीं जरा—सी गलती कर बैठे तो चक्रवर्ती की छोटी से छोटी दासी भी निवेदन कर सकती है कि मुनिराज ! अब आप सम्राट् नहीं रहे। आप सम्यक्दृष्टि भाव से अनन्त ज्योति को पाने के लिये निकल पड़े हैं। अब पहले जैसा आचार—विचार शोभा नहीं देता है। इसके बदले आपको मुनि जैसा आचरण करना चाहिये। इस प्रकार मुनि बने चक्रवर्ती सम्राट् यह अभिमान नहीं करे, कि अरे ! मेरी दासी और मुझे आज टोक रही है। वे उस पर गुस्सा नहीं होते हैं। चक्रवर्ती में लचक होती है। वे कहते हैं कि तुमने बहुत अच्छा कहा — मैं सुधार लूंगा। यह भाव सम्यक्दृष्टि के होता है। तो सा धु भी कहे तो सुने और बच्चा भी कहे तो सुने। और तथ्य है उनमें तो जीवन में स्वीकार करे। और यदि तथ्य नहीं है तो समझने की चेष्टा करे। परन्तु वह राजा तो सुनना भी पसंद नहीं कर रहा है। वह विवेक—विकल होकर देखने लगा। और जैसे ही उसका पारा तेज हुआ तो कहने लगा कि मेरे पास तलवार है। परन्तु उसके पास तो कुछ नहीं था। उस कन्या के पिता ने पहिले ही व्यवस्था कर रखी थी कि कोई भी राजा बात करे तो अंगरक्षक दूर—दूर खड़े रहें। और वार्तालाप करे तो उन्हें करने देना चाहिये। जरा भी कुछ दूसरी बात करे तो अनुचरों को प्रतिकार करना चाहिये। जैसे ही राजा उत्तेजित

सारे राज्य-अधिकारी असमंजस में पड़ गए। अब उनका क्या निर्णय होगा ? और जनता का क्या निर्णय हुआ ? और भव्यशीला क्या सोचती है ? और दूसरे राजाओं के पहुँचने की क्या स्थिति है ?

प्रथम राजा जेलखाने में पड़े हुए हैं।

वहाँ की जनता विचार में पड़ी हुई है। अब क्या होगा, यह आगे की बात है। तो मैं संकेत दे रहा हूँ कि हम अभी और कुछ नहीं कर सकें तो सम्यक्दृष्टि भाव को तो याद रखें और सम्यक्त्व के दो आचारों—निश्शंकित और निष्कांक्षित का सही रूप में पालन करें। यदि आप ऐसा कर सकें तो भगवान् की तलवार की धार पर चलने से भी कठिन सेवा करने में समर्थ हो सकेंगे।

इत्यलम्

सम्यक्त्व और उसके लक्षण-2

प्रार्थना

“धार तरवार नी सोहेली, दोहेली, चौदमा जिण तणी चरण सेवा।
धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवा ना धार पर रहे न देवा।।
देव, गुरु, धर्म नी श्रद्धा कहो किम रहे, केम रहे शुद्ध श्रद्धान आणो।
शुद्ध श्रद्धान विण सर्व किरिया करी, छार पर लीपणु तेह जाणो।।

ध.।।५।।

बंधुओ ! मानव के मस्तिष्क में कई तरह की सांसारिक बातें बहुत समय से चलती हुई आ रही हैं। इन बातों के कारण मस्तिष्क में परमात्मा का स्वरूप और उनके उपदेशों का प्रवेश नहीं हो पा रहा है। विचारों में जब मस्तिष्क उलझ जाता है और उनका प्राबल्य होने

चाहिये। आम जनता की बैठक हुई। उसमें मंत्री ने प्रस्ताव रखा कि अपने स्वामी को पकड़ लिया है तो अब क्या करना चाहिये ?

जनता का जो नेता था, उसने खड़े होकर कहा कि हम सब-कुछ करने को तैयार हैं। परन्तु वे सुरा और सुंदरी के अधीन हो गए थे। उनको सहयोग देना अनीति को पोषण देना होगा। जनता का एकमत होगा, तो किसी की ताकत नहीं चलेगी। परन्तु जनता में यदि मतभेद होगा और भावात्मक एकता नहीं होगी, तो फूट-फजीहत होगी और अनीति पनपेगी। एक स्वर में जनता बोल उठी कि ऐसे अनीति करने वाले को हमें सहयोग नहीं करना चाहिए। हम पूछना चाहते हैं कि वे वहाँ गए ही क्यों ? उन्होंने राजकीय अपराध किया है, तो पकड़े गए हैं। हम इनके पूर्व के चरित्र को जानते हैं। वे स्वामी बनकर रहे, तो कैसा व्यवहार करते थे, कैसे ठुकराते थे, तिरस्कार करते थे ? अरे ! राजा हैं तो जनता के पिता की तरह पालना करना चाहिए। परन्तु पिता की तरह पालन नहीं करते थे। हमारे दिल में उथल-पुथल थी। अच्छा हुआ कि उनके जीवन के लिये शिक्षा का प्रसंग आया। आम जनता नैतिकता के पक्ष में खड़ी हो गई। मंत्री और सारे राज्य-कर्मचारी चिन्ता में पड़ गए कि अब कैसे और क्या करना चाहिये ? परन्तु चढ़ाई तो नहीं करनी चाहिये। जनता में थोड़ी भी जागति आती है तो अन्याय-अत्याचार रुक सकते हैं। जागति नहीं आती है तो अनीति, अत्याचार पनपते रहते हैं। आज तो सर्वत्र लोभ का बोलबाला है। अनैतिक जीवन बढ़ गया है। सम्यक् भावों के साथ जनता की जो एकता होनी चाहिये, वह नहीं है। आज पारिवारिक जीवन में एकता नहीं है। जहाँ छिन्न-भिन्नता होवे, वहाँ सम्यक्दृष्टि भाव पनपना कठिन है। यह भावना, वहाँ सब की बन गई। और सारी जनता खुश हुई। अब

ईमान और श्रद्धा पर बल दिया गया है। भ.महावीर ने श्रद्धा पर सब से अधिक बल देते हुए कहा कि—“सद्धा परम दुल्लहा।” श्रद्धा होना बड़ा दुर्लभ है। परमात्मा पर विश्वास हो जाना सरल है, परन्तु परमात्मा के बताए हुए मार्ग पर श्रद्धा-आस्था रखना बड़ा कठिन है। परमात्मा के द्वारा बताए गए धर्म में क्षमा आदि उत्तम गुणों को व्यक्ति अच्छा कह सकता है। इससे बढ़कर और कोई गुण नहीं हो सकता। इसमें मतभिन्नता की बात ही नहीं आती। शास्त्र को समझने का भी एक तरीका है। प्रभु ने धर्म की बात बताने के साथ ही साथ, व्यवहार का विज्ञान भी दिया। इस विज्ञान की साधना में भी संकेत मिला कि संसार के पदार्थों को, संसार के भावों को, अलग-अलग परिवेश में रहने वाली वक्तियों को, अलग-अलग समूहों को, अलग-अलग दृष्टि से देखने के साथ ही साथ उनमें समन्वयात्मक स्थिति और समन्वय स्थिति के साथ किसके साथ क्या व्यवहार होना, इन विषयों का प्रतिपादन भी इस साधना के विषय के अंतर्गत आता है। कभी-कभी तटस्थ दृष्टि नहीं बनती है, तो शास्त्र के स्वरूप को समझने में कठिनाई आजाती है। परिणामस्वरूप किसी एक हिस्से को पकड़कर, दूसरे हिस्सों का तिरस्कार करने को तत्पर हो जाता है। व्यक्ति और समष्टि — ये दो चीजें हैं। ये दोनों सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं हैं। व्यक्ति से परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व बनता है। उनमें से यदि व्यक्ति को निकाल दिया जाए, तो क्या परिवार की संज्ञा बनेगी ? परिवार नहीं रहा तो समाज का स्वरूप नहीं आएगा। व्यक्तियों के समूह को परिवार कहते हैं। अनेक परिवार मिलकर समाज बनता है। और अनेक समाजों से राष्ट्र और अनेक राष्ट्रों से विश्व की स्थिति बनती है। यह स्थिति यथावत चलती रहती है।

व्यक्ति से समष्टि बनती है और समष्टि का मूल व्यक्ति है। इसको समझने में यदि यह विवेक नहीं रहा तो श्रद्धान में शुद्धता नहीं आएगी। कभी-कभी यह कहा जाता है कि व्यक्ति ही सर्वोपरि है। इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। तो दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि व्यक्तिवाद ठीक नहीं है — समष्टि को ध्यान में रखकर

लगता है, तो अन्य हितकारी बात वह सुन नहीं पाता। उन्हें सुनने के लिए मूल स्थिति पर आना है। मूल स्वरूप के साथ परमात्मा के उपदेश को हृदयंगम करते हुए, उसके अनुसार जीवन को बनाने से, परमात्मा की कठिन सेवा की जा सकती है। कवि आनंदघनजी ने तलवार की धार पर चलने से भी अधिक दुष्कर कार्य परमात्मा की सेवा को बताया। तो सोचने की बात है कि उन्होंने ऐसा क्यों कहा ? परमात्मा की भक्ति को इतना कठिन क्यों बताया ? इसके लिए परमात्मा वतीराग देव के उपदेशों का बारीकी से विश्लेषण कर समझना होगा और जीवन में उतारना होगा। प्रभु के उपदेशों को समझना और उसका आचरण करना, सरल बात नहीं है। फिर भी भक्त को निराश होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रभु ने ही उसका सरल उपाय बताया है। वह सरल उपाय है— सच्ची श्रद्धा। सच्ची श्रद्धा रखना मोक्षमार्ग की ओर भक्ति की प्रथम सीढ़ी है। आध्यात्मिक जीवन की उस प्रथम भूमिका पर ठीक से व्यवस्थित हो जाने पर आगे की मंजिल सरल बन जाती है। सच्ची श्रद्धा में यदि व्यक्ति स्थिरता पकड़ लेता है, विचलित नहीं होता है, शंका-कांक्षा से युक्त नहीं होता है, तो कठिन कार्य भी सरल बन जाता है। वीतराग वचन की दृढ़ आस्था नहीं है, अन्य-अन्य विषयों में यदि उलझ गया है और आस्था का ठीक तरह से वहन करना नहीं आया, दृढ़ीभूत नहीं बना, तो उसके अभाव में सारी क्रियाएं आध्यात्मिक शांति देने वाली नहीं बनेगी। “छार लीपणो तेह जाणो”— राख के ऊपर लीपने के समान के निरर्थक होंगी।

मनुष्य के जीवन में सब से पहिले परमात्मा के प्रति आस्था और उनके द्वारा बताए हुए धर्म पर दृढ़ निष्ठा-विश्वास होना चाहिए। इस भूमिका के बिना आगे की मंजिल तय नहीं हो सकती है। यह भूमिका, हर धर्म में बताई है। धर्म की साधना में, इस भूमिका पर बल दिया है। इसके लिए सबसे पहिले विश्वास आवश्यक है। कुरान शरीफ में इसको ईमान कहा गया है। गीता में कहा है कि “श्रद्धामयोयंपूरुषः”। वेद, पुराण, कुरान, गीता सब में विश्वास,

कवि ने संकेत दिया कि हम देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा रखें। जो मार्ग वीतरागदेव ने बताया है, उसमें व्यक्ति को श्रद्धा रखना चाहिए। मैं जहां तक सोचता हूँ, यह संसार का विषय नहीं है। धर्म की दृष्टि से और धर्म के स्वरूप के चिंतन की दृष्टि से वास्तव में जीवन के परिमार्जन का विषय है। कल किस विषय का संकेत दे गया था ? आठ आचारों के विषय में कह गया था कि सम्यक् भाव में चलने वाले के आठ आचार हैं। जो इन आचारों को लेकर चलता है, तो समझा जाए कि यह सम्यक्दृष्टि आत्मा है। जो वीतरागदेव के द्वारा प्ररूपित समता से परिपूर्ण है और उस पर यथावत श्रद्धा रखकर चलता है, शंका नहीं करता है, अन्य दर्शन की आकांक्षा नहीं करता है, तो वह समकित के दो आचारों का पालन करता है। सम्यक्त्वी का तीसरा आचार निर्विचिकित्सा है। अर्थात् धर्मक्रियाओं के फल के प्रति सन्देह न करता है। वैसे सम्यक्त्वी जीव निष्काम भाव से धर्मक्रियाएं करता है। उसे सांसारिक कामनाएं नहीं करनी चाहिए। यद्यपि शुभ क्रियाओं का शुभफल होता ही है, परन्तु उसकी कामना नहीं करनी चाहिए। सम्यक्त्वी को धर्मक्रिया के फल के प्रति सन्देह नहीं रहता है। वह ऐसी शंका नहीं करता कि मैं धर्मक्रिया तो करता हूँ, परन्तु क्या पता उनका फल मिलेगा या नहीं ? ऐसी शंका करना समकित का दोष है।

फल के विषय में शंकाशील न होना तीसरा आचार है। धार्मिक कार्यों को करते हुए, व्यक्ति को फल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिये। उसको फल की कामना बिना कार्य करना चाहिए। उसको सोचना चाहिए कि मैं जब शुभ भाव से चल रहा हूँ और कर्तव्य का निर्वाह कर रहा हूँ तो मुझे अवश्य फल मिलेगा। गीता में कहा है कि —“कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन”। हे अर्जुन, तुझे कर्म करने का अधिकार है। फल की चाह करने का अधिकार नहीं है। फल में आसक्ति मत रख। व्यक्ति को केवल यह देखना चाहिए कि वह जो क्रियाएं कर रहा है, वे ठीक तरह से हो रही हैं, या नहीं। ठीक ढंग से की गई क्रिया का यथासमय फल प्राप्त होता ही है।

चलना चाहिए। वस्तुतः व्यक्ति और समष्टि, दोनों सापेक्ष हैं। एक बिना दूसरा नहीं रह सकता है। व्यक्ति के बिना समष्टि और समष्टि के बिना व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है। अतएव दोनों का सामंजस्य बनाकर चलना चाहिए। व्यक्ति समाज पर निर्भर है और समाज व्यक्ति पर निर्भर है। व्यक्ति है तो समाज और व्यक्ति नहीं तो समाज नहीं। गुणी है तो गुण अवश्य है। हम गुण कहां ढूँढेंगे ? गुण गुणी को छोड़कर नहीं रहते। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये गुण हैं। ये व्यक्ति को छोड़कर नहीं रह सकते। आत्मा, व्यक्ति है और उसमें ये गुण रहे हुए हैं। इनके दर्शन आत्मा में होते हैं। गुण स्वतंत्र नहीं रह सकते हैं। गुण कभी व्यक्ति को छोड़कर नहीं रहता। वे व्यक्ति में ही रहते हैं। यदि तार्किक दृष्टि से चिन्तन किया जाएगा, तो वक्ष की पहिचान मूल से होगी। मूल को छोड़कर वक्ष नहीं रह सकता है। टहनी-पत्ते उसके सहारे हैं।

गुण और गुणी का आपसी संबन्ध है। सूर्य की किरणें दिख रही हैं। सूर्य (गुणी) द्रव्य है और किरणें उसका गुण हैं। यद्यपि किरणें भी द्रव्य हैं और प्रकाश उनका गुण है। किरणों के बिना सूर्य नहीं और सूर्य के बिना किरणें नहीं। जब हम सूर्य का कथन करते हैं, तो उससे अभिप्राय होता है, असंख्य किरणों वाला सूर्य। क्योंकि किरणों के कारण ही सूर्य प्रकाशमान होता है। जब हम किरणों का कथन करते हैं, तो उससे सूर्य के गुण का ही कथन होता है। इसी प्रकार गुणों से गुणी का कथन और गुणी से गुणों का कथन होता है। इसी तरह व्यक्ति और समष्टि की भी सापेक्षता जाननी चाहिए। इसी तरह शास्त्रों को सापेक्ष दृष्टि से समझना चाहिए। ऐसा करने से ही सम्यक् श्रद्धान हो सकता है और मोक्षमार्ग पर चला जा सकता है। सापेक्ष दृष्टि रखने से आप सामाजिक जीवन में अच्छी तरह कार्य कर सकते हैं। परिवार में श्रद्धा की भावना पैदा कर सकते हैं। व्यक्ति में सामाजिकता और राष्ट्रीयता भर सकते हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार को भलीभांति समझ कर चलता है तो वह श्रद्धा को समीचीन रख सकता है।

उपाय किए गए। डॉक्टर—वैद्य और उस समय के जितने भी तरह के उपचार करने वाले थे, उन्हें बुलाया गया। सब ने अपनी—अपनी विधि के मुताबिक, उस वेदना को शमित करने के प्रयत्न किये। परन्तु एक भी प्रयत्न सफल नहीं हुआ। सब यही चाहते थे कि इनकी वेदना शांत हो, सब के सब चिंतित थे। परन्तु अनाथी मुनि सम्यक् भाव में चल रहे थे। वे सोच रहे थे कि ये सारे निमित्त तो जुटाए जा रहे हैं, परन्तु उपादान की उपेक्षा की जा रही है। यदि निमित्त और उपादान, दोनों का संयोग होता है तो अवश्य सफलता मिलती है। उपादान मुख्य कारण है और निमित्त गौण कारण है। दोनों के होने पर कार्य सिद्ध होता है। इसमें संशय की कोई बात नहीं है। निश्चिंत होकर और निर्विचिकित्सक भाव को जगाकर चलो। भगवान कह रहे हैं कि तुम कारण को सही रूप में समझकर कार्य को दढ़तापूर्वक करते जाओ, तो तुमको सफलता अवश्य मिलेगी।

वे अनाथी मुनि बीमारी के उपादान को खोजने लगे। वे सोचने लगे कि इतने दिनों तक मैं मानता था कि वैद्य—डॉक्टर ही आराम करेंगे। परन्तु यह दृष्टिकोण ठीक नहीं था। इस दृष्टिकोण के पीछे मेरी श्रद्धा की क्या स्थिति थी ? यदि मैं वीतरागदेव के ऊपर आस्था रखकर चलने वाला हूँ तो ये सारे निमित्त मिल जायें, परन्तु जब तक आत्मा का दढ़ संकल्प और श्रद्धा की स्थिति नहीं बनती है, तब तक ये सारे निमित्त कारगर नहीं होते हैं। उन्होंने उपादान को जान लिया और उसी रात को भाव से प्रभु के चरणों में नमस्कार किया। वे कहने लगे कि भगवन् ! मैंने आपके द्वारा बताए हुए सिद्धान्त पर चिन्तन—मनन किया। परन्तु बीच में, मैं इन पदार्थों को मुख्यता देने लगा। परन्तु मैं अपनी बीमारी के उपादान को नहीं समझ पाया। अब सच्ची श्रद्धा के साथ उपादान को मजबूत करूँगा। उन्होंने दढ़ता के साथ निश्चय किया कि यदि आज की रात्रि में मेरी वेदना शमित हो जाती है, तो कल से मैं इन सांसारिक बंधनों को

एक व्यक्ति भोजन बनाने के लिए बैठा है। उसके पास भोजन बनाने की सब सामग्री है, परन्तु उसे यदि भोजन बनाने की विधि ठीक से मालूम नहीं है, तो वह स्वादिष्ट भोजन नहीं बना सकता। वह सब्जी में नमक डालने के बजाय यदि बूरा (शकर) डाल देता है, तो सब्जी का स्वाद बिगड़ जाता है। स्वादिष्ट सब्जी नहीं बन पाती है, क्योंकि सब्जी बनाने की सही विधि उसे नहीं आती। उसकी वह क्रिया, ठीक से विधिपूर्वक नहीं की गई है। अतः उसके फल में सन्देह हो सकता है। जो क्रिया ठीक ढंग से की गई हो तो, फल में सन्देह का कोई कारण नहीं रहता।

साधना के क्षेत्र में भी ऐसा ही है। साधना करने बैठे, परन्तु साधना की विधि सही रूप में नहीं जानी, उस पर भरोसा नहीं किया और यथाशक्ति आचरण नहीं किया, तो साधना के फल में सन्देह हो सकता है, परन्तु विधिपूर्वक सही रूप में की गई साधना का फल अवश्य ही मिलता है। सम्यक्त्वी जीव को ऐसा दढ़ विश्वास होता है, अतएव वह फल के प्रति शंकाशील नहीं होता।

सम्यक्त्वी जीव को अपने कर्तव्य के निर्वाह के प्रति दढ़ आस्था होती है। वह अपने लक्ष्य की ओर दढ़ता के साथ बढ़ता रहता है। “कार्यं वा साधयामि देहं वा पातयामि।” इतनी दढ़ श्रद्धा है कि या तो कार्य को सिद्ध करूँगा या मैं देह को गिरा दूँगा। अर्थात् उस कार्य के लिये मेरी देह भी समर्पित हो जाए तो भी वह कार्य सिद्ध करके छोड़ूँगा। जो व्यक्ति इतनी दढ़ श्रद्धा के साथ काम में जुट जाता है, तो कार्य सिद्ध करता ही है। फल उसके सामने स्पष्ट रूप से आ जाता है। उसमें कोई भी अंतर आने वाला नहीं है। परन्तु यदि व्यक्ति में संकल्प की कमी है, श्रद्धा की कमी है, आकांक्षा रखकर चल रहा है और चाहता है कि मुझे फल अवश्य मिले। परन्तु फल उसे नहीं मिलने वाला है। देखिए ! अनाथी मुनि, जिनके जीवन में सामाजिक सुख की लहर चल रही थी। परन्तु अचानक नेत्र की वेदना पैदा हो गई। दाह ज्वर की तरह, बिजली के करंट की तरह नेत्रों में तीव्र वेदना होने लगी। उसका शमन करने के लिये, बहुतेरे

का निवारण नहीं कर सकता है। डॉक्टर दवा दे रहा है, परन्तु उस पर मरीज का विश्वास नहीं होता तब तक दवा काम नहीं करती है। श्रद्धा हो गई, आस्था है तो उसको आराम हो जाता है।

स्व. जवाहरलालजी म. के बचपन की बात है। वे मामा के यहां शिक्षा ले रहे थे। उन्होंने बचपन में नाभि-डूँटी मंतरने को मंत्र सीख लिया था। जिसके धरण हो जाती है, तो कहते हैं कि डूँटी चढ़ गई। वह प्राचीन युग था। आज की स्थिति तो दूसरी हो गई। उस वक्त तो मंत्र का प्रचार था। उनको याद था डूँटी का मंत्र। कोई बुलाता तो झट चले जाते थे। मंत्र से रोगी ठीक हो जाता था। पेट की पीड़ा ठीक हो जाती थी। इससे उनकी प्रतिष्ठा बनी। प्रसिद्धि भी हो गई। चारों तरफ मांग बढ़ने लगी।

एक बार दीपावली के दिन, ये मामाजी की कपड़े की दुकान पर बैठकर, नामा-लेखा कर रहे थे। एक पीड़ित व्यक्ति आया और कहने लगा, जवाहरलाल ! चलो, मेरी मां के पेट में बहुत दर्द हो रहा है। डूँटी टल गई है। वह बार-बार चलने का आग्रह कर रहा था। परन्तु वे सोच रहे थे कि मामाजी आज्ञा दें तो जाऊँ। परन्तु मामाजी आज्ञा नहीं दे रहे थे। इस व्यक्ति के बार-बार आग्रह से मामाजी को झुंझलाहट आ गई। वे कहने लगे कि, 'अरे ! जवाहरलाल ! तू यह क्या मंत्र सीख गया। व्यापारी का बेटा होकर मंत्र-झाड़े में पड़ गया। आज भी ये लोग सता रहे हैं। तुझे यह धंधा नहीं सीखना चाहिए था, मामाजी की बात इनकी समझ में आ गई। इतने में ही मामाजी ने कह दिया कि जाओ। तो ये उठकर चले गए। परन्तु मन में सोच लिया कि आज मैं मंत्र का जाप नहीं करूँगा। जाप का नाटक करूँगा। इससे पेट की वेदना शांत नहीं होगी, तो बात फ़ैल जाएगी कि इनका मंत्र नहीं चलता है। इस प्रकार से मेरा पिण्ड छूट जाएगा। इसी भावना से वे रोगी के पास पहुँच गए। वहां दूर खड़े होकर मंत्र नहीं जपा, केवल अपने पेट पर हाथ फेरते रहे। परन्तु परिणाम यह हुआ कि रोगी की वेदना शांत हो गई। कहिए, वहां मंत्र चला या श्रद्धा चली ? उस व्यक्ति के मन में श्रद्धा थी कि

छोड़कर "खंतो-दंतो, निरारंभो पव्वइए अणगारियं"। मैं शान्त, दांत और निरारंभी होकर अणगार बन जाऊँगा।

दढ़ आस्था के साथ यह विचार किया। उन्होंने सोच लिया कि मेरा दढ़ संकल्प शुभ है और शुभ का फल अवश्य होगा। ऐसा सोचते-सोचते वे ध्यानमग्न हो जाते हैं, उन्हें नींद आ जाती है। कई दिनों से नींद नहीं आ रही थी। आज वे इतनी गाढ़ निद्रा में चले गए कि वेदना का पता नहीं चला। प्रातःकाल होते ही सारे परिजन एकत्रित हुए। वे अपनी-अपनी बात कहने लगे। कोई कहने लगा कि मैंने अमुक की औषधि करवाई, किसी ने कहा कि मैंने अमुक देव की आराधना की, तो इससे ये ठीक हो गए और कोई कहने लगा कि मैंने अमुक की मानता की- झाड़ा दिलाया, आदि-आदि। सब अपने मन की बात कहने लगे। परन्तु इन सब की बातों को अनाथी मुनि सुन रहे हैं। और साथ ही साथ मन में चिन्तन कर रहे हैं कि ये कितने भद्रिक हैं। ये मूल को नहीं समझ रहे हैं। कारण और कार्य का उन्हें ज्ञान नहीं है। बीमारी का उपादान अन्दर है किंतु ये बाह्य निमित्तों को ढूँढ़ रहे हैं। दढ़ श्रद्धान के साथ मैंने जो दढ़ संकल्प किया उस का परिणाम तत्क्षण मुझे मिला।

मुनष्य की भावना और दढ़ संकल्प का प्रभाव व्यक्ति पर पड़े बिना नहीं रहता। जब तक व्यक्ति दढ़ संकल्पी नहीं होता और शुद्ध श्रद्धान के साथ नहीं चलता, तब तक किसी भी विषय की स्थिति ठीक नहीं होती है। दढ़ संकल्प कर लिया, तो शुभ परिणामों का असर मेरे शरीर पर पड़ा और रोग शमित हो गया। क्या दढ़ संकल्प से रोग शमित होता है ? इस विषय में मनोविज्ञान की दृष्टि से विश्लेषण चल रहा है। मानसिक चिकित्सक मानसिक रोगों का शमन कर रहे हैं। आनुवंशिक रोग की खोज कर ली गई है। एक दृष्टि से देखा जाए तो आज का युग खोज का युग है और इनके साथ चिन्तन का युग आया है। सब बातों पर बारीकी से चिन्तन हो रहा है। ऐसी स्थिति में शुद्ध श्रद्धान का चिन्तन भी कर सकते हैं। परन्तु मन में जब तक संशय चलता है, तब तक बीमार अपने रोग

नहीं है, चहल-पहल नहीं है। लोग उसमें तारीफ भी नहीं करते हैं। मैं इतना धर्म का पालन कर रहा हूँ, फिर भी मेरी तारीफ नहीं होती। और यहां थोड़ा-सा बाहरी दिखावा किया नहीं कि लोगों में वाहवाही हो जाती है। यह भावना उसके मन में आ जाती है। वह श्रद्धा से विचलित हो जाता है। यह भावना मूढदृष्टि की होती है। सम्यक्दृष्टि मूढदृष्टि वाला नहीं बनता है। वह सोचता है, कि मनुष्य की प्रकृति, बाह्य आडम्बर को पसंद करती है। आडम्बरप्रिय व्यक्ति का अन्तःस्तल खोखला होता है। मैं अपने आध्यात्मिक जीवन के साथ चल रहा हूँ। इसमें यशः-कीर्ति नहीं मिली, लोगों की वाहवाही मेरे कानों तक नहीं आई, तो क्या हुआ ? मैं अपने विश्वास के साथ चल रहा हूँ और आत्मा को पवित्र बनाता हुआ चल रहा हूँ।

सम्यक्त्व का पांचवां आचार, 'उपवंह' है। अर्थात् गुणीजनों के गुणों को ग्रहण करना, गुणीजनों की प्रशंसा करना। ऐसा करने से गुणों को और गुणी को प्रोत्साहन मिलता है। गुणों के प्रति उसकी और अन्य जनों की अभिरुचि बढ़ती है।

सम्यक्त्वी की दृष्टि में दूसरे के दोष गौण और गुण मुख्य होते हैं। वह किसी सम्यक्दृष्टि आत्मा को देखता है तो उसके गुणों को बढ़ाने की चेष्टा करता है। वास्तविक गुण हैं, तो उनको उभार करके बताता है। दोषों को इस ढंग से बताता है, ताकि उनके परिमार्जन की प्रेरणा मिले। तो सम्यक्दृष्टि गुणी है और गुणी ही गुणों को लेकर चलता है। परन्तु इस आचार संहिता को नहीं समझने के कारण, सभी स्थलों पर व्यक्ति आलोचना को मुख्यता से लेकर चल रहा है। दोषों को उभारने की चेष्टा करता है। अरे ! धर्म किया तो क्या हुआ ? क्यों यह नहीं हुआ। सारे धर्म बेकार हो गए। ऐसा कहने वाला समदर्शी नहीं होता है। वह तो गुणों को बढ़ावा देता है। बढ़ावा देने के साथ यह भी कहता है कि यह और कर लो, तो ठीक रहेगा। ऐसा कहने से वह व्यक्ति समझता है कि यह मेरे जीवन का निर्माण करने वाला है। ऐसा नहीं करके धर्म करने वालों को एक घाट उतारता है कि ये तो ढोंगी हैं, फक्कड़ हैं,

जवाहरलालजी मंत्र पढ़ते हैं, वेदना शान्त हो जाती है। प्रगाढ़ श्रद्धा थी। उसके परिणामस्वरूप, विचारों में परिवर्तन आया और वेदना शमित हो गई।

वैज्ञानिक अनुसंधानों से ज्ञात हुआ है कि केवल भावनाओं और विचारों के बल पर अनेक रोगों का उपचार किया जा सकता है। अनेक डाक्टर इस पद्धति का प्रयोग कर रहे हैं। वे रोगी की भावना में परिवर्तन करते हैं, रोगी के आत्मविश्वास को बढ़ाते हैं और उसे सकारात्मक विचार करने की सलाह देते हैं कि वह निरोग हो रहा है और शरीर में कोई रोग नहीं है। यह श्रद्धा बैठा देते हैं, तो वह रोग से निवृत्त हो जाता है। यह विज्ञान की पद्धति थोड़े-से क्षेत्र में प्रचलित है। यह पद्धति जितनी चाहिए, उतनी प्रचलित नहीं हुई है। इस मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की, जब मैं अध्यात्म की दृष्टि से समीक्षा करता हूँ, तो मुझे ज्ञात होता है कि ये दोनों दृष्टियां विचारों पर – भावनाओं पर आश्रित हैं। भावनाओं का असर बाहर भी होता है और अन्दर भी होता है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सक भावना के आधार पर रोग का उपचार करते हैं, तो आध्यात्मिक चिकित्सक भावनाओं के बल पर आत्मा के रोग का उपचार करते हैं।

भगवान महावीर ने यह निर्देश दिया कि तुम्हारा श्रद्धाबल बहुत मजबूत होना चाहिये। वह दुष्कर इसलिए है कि मनुष्य अपने विचारों में स्थिर नहीं रह पाता है। अतः कार्य में सफलता नहीं पाता है। सम्यक् दृष्टि का तीसरा आचार बताया है "निर्विचिकित्सा" – जो धर्म करनी कर रहा हूँ, उसका भविष्य में अवश्य फल मिलेगा। ऐसी आस्था, दृढ़ विश्वास रखकर, शुभ कार्य में तन्मय होकर जो चलता रहता है, वह तीसरी आचार संहिता का पालन करता है। चौथी आचार संहिता है, अमूढता। जिस श्रद्धान और विश्वास को लेकर चल रहा है, उससे विपरीत बाहरी आडम्बर, भव्य रौनक, सस्ती लोक-वाहवाही, यशः-कीर्ति का प्रसंग सामने आने पर वह व्यक्ति सोचता है कि मैं जिस श्रद्धा के साथ चल रहा हूँ, जिस आधार की भूमिका को लेकर चल रहा हूँ, उसमें तो यह राग-रंग

पीढ़ी से बुजुर्गों को जो टकराव दिखता है, वह भी इस प्रकार से समाहित हो सका है। समता सर्जन मूल चीज है। वह तभी आएगी, जब कि 'उपवंधा' गुण को लेकर चलेंगे। मतभेद की स्थिति में समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। ऐसा करने से मतभेद दूर होंगे और एकरूपता आवेगी। इससे समाज में एकरूपता आती है, राष्ट्र में एकरूपता आ सकती है। यह समन्वय अमोघ गुण है। समन्वय तब होता है, जब गुणदृष्टि प्रधान हो और दोषदृष्टि गौण हो। 'उपवंधा' आचार का पालन करने से, गुणदृष्टि का विकास होता है।

सम्यक्त्व का छटा आचार है—स्थिरीकरण। कोई धर्म से यदि विचलित हो रहा है, उसको कैसे स्थिर करना। उसे धर्म में लगाए रखना। सम्यक्त्व का सातवां आचार वात्सल्य है। साधर्मी भाई—बहिनों के प्रति वात्सल्य भाव रखने से भाईचारे की वृद्धि होती है। तीर्थ में संगठन बना रहता है।

आज मेरे भाई स्वामी वत्सल कर देंगे, बड़े—बड़े भोज कर लेंगे, उन्हें जिमा देंगे। परन्तु सत्कार किनका करते हैं ? जो बड़ी अच्छी पोशाक पहिन कर आए हैं, तो कहते हैं— पधारो सा ! पधारो सा ! और उन्हें बड़े प्रेम और आदर के साथ जिमा देंगे। परन्तु कोई सादी पोशाक में आता है, तो उसकी उपेक्षा की जाती है। यह सामूहिक भोज तो है परन्तु साधर्मी वत्सलता नहीं है। स्वामी वत्सलता के बाद सम्यक्दृष्टि का आठवां आचार है 'प्रभावना'। प्रभावना की दृष्टि से नारियल की बोरियों ले आए। परतु किनको बांटते हैं ? जो दिखने वाले हैं, बड़े आदमी हैं। और जो वास्तविक हकदार हैं, उनको टालने की चेष्टा करते हैं, हटाने की चेष्टा करते हैं। यह प्रभावना है या प्रभावना का दिखावा ? उन गरीबों के मन में समता भाव आएगा या विषमता आएगी ?

आप सब भगवान महावीर के सिद्धान्तों को लेकर चलते हैं, मैं तो किसी भी भ.महावीर के भक्त को देखता हूँ तो मेरा मन हर्षविभोर हो जाता है। भगवान ने कितनी सुंदर बात कही है, कितनी

ये कुछ नहीं करते हैं, तो ऐसा करते हुए वह उनके पैरों को ढीले कर देता है। उनमें रही-सही श्रद्धा को भी डगमगा देता है।

आज श्रद्धा के विषय में डावांडोल स्थिति आ रही है। नवयुवकों और वृद्धों में मतभेद हो रहा है। यदि समता के साथ विवेचन किया जाए तो स्पष्टता होगी। बुजुर्गों और जवानों में समन्वय होना चाहिये। युवक ही भावी समाज के विधाता बनने वाले हैं। इनका उत्साह बढ़ाया जाना चाहिए। कभी युवकों में उतावलापन भी आ सकता है। क्योंकि इनमें खून की गरमी है। कभी होश की मात्रा से जोश की मात्रा बढ़ सकती है। जोश में होश को खो भी सकते हैं और होश के अभाव में कभी जोश आ गया, तो गलती भी कर बैठते हैं। बुजुर्गों और युवकों को इस प्रकार से समन्वयता लानी चाहिए कि बुजुर्ग जवानी से कहें कि आप में कार्य करने की बहुत क्षमता है। यह तो अच्छा कार्य है। परन्तु यह सोचना चाहिए कि जोश ही जोश में होश नहीं चला जाए। जब उन्हें प्रेम के साथ कहेंगे, तो स्वयं युवक, आत्मावलोकन करेंगे और ये समझेंगे कि अहोभाग्य है कि ये नेता हमारा कितना ध्यान रख रहे हैं। ये हमारे गुणों की कद्र कर रहे हैं। तो वे जीवन में परिवर्तन कर लेंगे और समाज के लिए सदा के लिये हितकारी बन जायेंगे। कदाचिद् युवकों को समझाने में इस प्रकार से विवेक नहीं रखा गया और दोष ही दोष निकाल दिये, तो वे युवक निरुत्साहित हो जावेंगे। वे सोचेंगे कि इतने काम अच्छे किये और एक में दोष हो गया, तो उसको उछाल दिया, सब में बेइज्जती कर दी। तो उनका जोश ठंडा हो जाएगा। वे उदासीन हो जावेंगे। वे समाज और धर्म से दूर रहने लगेंगे।

मनोविज्ञान की दृष्टि से सोचिए। 'उपवंधा' को अपनाते हुए गुणों को बढ़ाने की चेष्टा करें। गुणीजनों के गुणों को उभारें। ऐसे ही युवकों को बुजुर्गों की आलोचना-प्रत्यालोचना नहीं करनी चाहिए। परन्तु उनके गुणों को उभारना चाहिये। आप बड़े अनुभवी हैं। हमको आप अपना अनुभव दीजिए। हम आपकी आज्ञा के अनुसार कार्य करेंगे। ऐसा कहने से उनका उत्साह भी बढ़ जाता है और भावी

बंधुओ ! मैं कटु बात कह देता हूँ। यदि सत्य नहीं कहूँगा तो भ. महावीर का अनुयायी नहीं रहूँगा। मैं जो कह रहा हूँ वह आपको ठीक लगे तो ग्रहण कर लें। यदि मैं विपरीत बोल गया होऊँ, तो सदा के लिये द्वार खुले रखता हूँ। आप संशोधन दीजिए ! मैं सुधार लूँगा। संशोधन नहीं देते हैं, तो अपने द्वार खुले रखिए। आप में सम्यक् दृष्टिभाव ठीक से आया तो आप संसार में भी प्रीतिपात्र रहेंगे। कोई आप पर अंगुली नहीं उठा सकेगा।

आज क्या होता है ? मारवाड़ियों की आलोचना की जाती है। उनके दोष निकाल कर दुनिया की नजरों में गिराया जाता है। उसका मतलब है कि व्यापारी वर्ग, जो अलग-अलग प्रदेशों में व्यापार के निमित्त गया और अपने गुणों से उन लोगों के हृदयों में छाप जमाई थी, परन्तु अब उनमें वे गुण नहीं रहे, भावात्मक एकता नहीं रही। उन्होंने स्वार्थ को प्रश्रय दिया, गुणों को प्रश्रय नहीं दिया। यदि व्यक्ति के गुणों को प्रश्रय दिया जाए, तो मारवाड़ी व्यापारी बदनाम नहीं होता। परन्तु जहां देखो, मारवाड़ियों की निंदा, व्यापारियों की निंदा कि ये क्रूर हैं — खून चूसते हैं !

मानव में तटस्थता कहां है ? वह अपने अवगुण नहीं देखता, परन्तु दूसरे में गुण भी हों तो वे दोष रूप में ही दिखाई देते हैं। व्यापारियों को अपने जो-जो दोष हैं, उनको निकाल कर गुण जोड़ने चाहिये। कोई व्यक्ति कितना भी बड़ा क्यों न हो, उसको आठ आचारों को हृदयंगम करने की आवश्यकता है। यदि उसे हृदयंगम करके चलेगा, तो वह आदर्श उपस्थित करेगा। आप अपने स्तर को ऊँचा उठाएँ। आप, आठ आचारों को जीवन में उतारने के लिए प्रयत्न करें। भाई-बहिनें देखें कि हमारे अंदर इन आठों में से कितने आचार हैं ? प्रायः परिवारों में सासू-बहू के झगड़े हुआ करते हैं। सासू पड़ोसियों के पास बहू की निंदा करती है तो बहू सासू की निन्दा करती है। ऐसा नहीं होना चाहिए। दोनों को समभाव का, समता का आचरण करना चाहिए। शान्तभाव-क्षमाभाव रखना चाहिए।

ये बहिनें सम्यक्दृष्टि भाव के एक आचार को भी जीवन में

व्यापक बात कही है ! परन्तु उनके अनुयायी उससे विपरीत आचरण करते हैं। भगवान ने करुणा की बात कही है। सम्यक्त्वी को दुखी जीवों के प्रति करुणा रखनी चाहिए और साधर्मि के प्रति वत्सलभाव रखना चाहिए। ये शुद्ध श्रद्धान रूप सम्यक्त्व के आठ आचार हैं। इनका पालन करना चाहिए। साधर्मिक वात्सल्य और प्रभावना को सही रूप में अपनाना चाहिए। इनमें आडम्बर और दिखावे की भावना नहीं होनी चाहिए। सच्चे दिल से वात्सल्यभाव आना चाहिए।

उसे सोचना चाहिए कि साधर्मिक भाई-बहन असहाय हालत में तो नहीं हैं ? साधर्मि भाइयों की क्या दशा है ? किन-किन को एक टाइम का भोजन भी मिल रहा है, या नहीं। वे धन के अभाव में दुखी जिंदगी तो नहीं जी रहे हैं ? आवश्यक जीवनोपयोगी सामग्री उनको उपलब्ध है या नहीं ? जरूरतमंदों को योग्य सामग्री प्रदान करना चाहिए और ऐसा करके अभिमान नहीं करना चाहिए कि मैं दान कर रहा हूँ। यह तो सम्यक्त्वी का कर्तव्य है, ऐसा समझकर उन्हें सहायता पहुँचानी चाहिए। असहायों को सहायता करना, उनका तिरस्कार या उपेक्षा न करना और यथोचित उनका आदर-सन्मान करना, वास्तविक साधर्मि वात्सल्य और प्रभावना है। इनके द्वारा शुद्ध श्रद्धान रूप सम्यक्त्व अभिव्यक्त होता है।

शास्त्रीय बातों पर चिन्तन कीजिए। बंधुओ ! मैं आपके मस्तिष्क को भारी नहीं बनाना चाहता। मस्तिष्क में जो फिजूल के विचार भरे हुए हैं, उनको आप एक तरफ रखिए। और ठीक रूप में सिद्धान्तों को समझिए और व्यवहार कीजिए। आनन्दघनजी ने कहा है—

“धार तरवारनी सोहेली, दोहेली, चउदमा जिन तणी चरणसेवा”
तलवार की धार से भी प्रभु की सेवा कठिन है। क्यों कठिन है ? प्रत्येक व्यक्ति अपने हृदय में टटोले कि मुझमें कितना सम्यक् भाव है ? आचार कितना है ? क्या वास्तविक साधर्मि वत्सलता है ? यह तो कोसों दूर है। केवल वाहवाही है कि इतनी प्रभावना बांटी।

तोड़कर नहीं चल सकते। क्योंकि सीमा उनकी किसी व्यक्ति की बांधी हुई नहीं है। वह भगवान की बनाई हुई है। मूल मर्यादाएं भगवान ने बनाई हैं। जो उन्हें तोड़कर चलते हैं, उनको भगवान के प्रति श्रद्धा नहीं है। हां ! आप खुले हैं, विद्वान हैं, सब तरह का ज्ञान है, आप शास्त्रीय शब्दों के अर्थ को लें और गहनता में नहीं जा सकें, तो संतों से प्राप्त करें। उन सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार करते हुए समाज, राष्ट्र और विश्व को उनकी जनकारी दें। दुनिया की जो विषम परिस्थिति बनी हुई है, वह शमित हो जाए, शांत हो जाए और दुनिया को शांति का अमोघ मंत्र मिल जाए। शांति का संदेश मिल जाए। वह हृदयंगम हो जाय, तो दुनिया में शांति का संचार हो जायेगा। आप उदारता के साथ इन सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करें। दुनिया में शान्ति स्थापित करने का दूसरा कोई कल्याणप्रद मार्ग नहीं है। यह आप स्वयं अपने मन में जमा लीजिए। मैं कह रहा हूँ, इसलिये नहीं। आप तटस्थ भाव से चिंतन करेंगे, तो आपको शांति और आनन्द महसूस होगा। सारी दुनिया एक विचारधारा में आ जाएगी। आप एक विचार, एक आचार और एक उच्चार में आ जायें। यह समता केवल आकाशी हवा नहीं, सिद्धान्त की बात ही नहीं, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को छूने वाली है। जीवन की वक्तियों को उभारने वाली है। श्रीकृष्ण वासुदेव सेना लेकर निकल रहे थे। उसी समय देवलोक में इन्द्र ने तारीफ की कि पृथ्वी मंडल पर श्रीकृष्ण वासुदेव सम्यक् दृष्टिभाव में विचरण करने वाले हैं, वस्तु -स्वरूप को जिस रूप में वे समझने वाले हैं, उतना अन्य कोई प्राणी नहीं है। सब देवों ने विश्वास किया, परन्तु एक मिथ्यात्वी देव ने नहीं किया। वह सोचने लगा, आखिर वासुदेव अन्न का कीड़ा है। तो वह परीक्षा करने भू-मण्डल पर आया। उसने जहां से कृष्ण सेना लेकर निकल

उतार लेंगी, तो समाज की बहुत बड़ी समस्या हल हो जाएगी। यदि मूल सुधर जाता है, तो टहनी-पत्तों को सुधरते हुए कोई देर नहीं लगेगी। वे सुधरते हुए चले जायेंगे। और उसके अनुसार जीवन बनाये रखा, तो भावी संतति, जो कोमल बच्चे इनकी गोद में आयेंगे, उन्हें भी अच्छे संस्कार मिलेंगे। नई संस्कारित पीढ़ी सारे राष्ट्र और विश्व में भ.महावीर के अमोघ सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार कर सकेगी। आचारांग में एक वाक्य है "सर्वेसिं जीवियं पियं", सब प्राणियों को जीना अच्छा लगता है, छोटे से छोटे जीव को भी अपना जीवन अच्छा लगता है, कोई मरना नहीं चाहता। अतः प्रत्येक जीव को जीने का अधिकार है। किसी को किसी भी जीव को मारने का अधिकार नहीं है। अतः सबका अस्तित्व स्वीकार करो, सब के प्रति समभाव रखो। इससे बढ़कर समता नहीं हो सकती। आज हमारे सामने (अपूर्व थाती) खजाना पड़ा हुआ है। आज दुनिया को इसकी आवश्यकता है। परन्तु वितरण कौन करे ? दे कौन ? आप सोचें कि महाराज दें, महाराज तो अपनी सीमा में चल रहे हैं। वे सीमा को

में स्वाध्याय का विषय चल रहा है। आत्म-साधना करने वालों के लिए - चाहे वे श्रमण हों, चाहे श्रावक हों - स्वाध्याय एक प्रबल साधन होता है। स्वाध्याय साधक-जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस जीवन के निर्वाह के लिये, अन्य-अन्य सामग्री - अन्न, जल, हवा, मकान आदि जैसे आवश्यक हैं, वैसे ही आध्यात्मिक जीवन-निर्माण के लिए स्वाध्याय भी एक आवश्यक अंग है। जीवन के साधनों के साथ स्वाध्याय का अंग भी सम्मिलित कर लें। दुनिया के कार्यक्रमों में जो कार्य आवश्यक रूप से प्रतिदिन किये जाते हैं, उनमें से एक कार्यक्रम यदि स्वाध्याय का बन जाता है, तो मनुष्य जीवन में चार चांद लग जाते हैं।

आज जीवन अवश्य जीया जा रहा है, परन्तु जीवन जीने की कला मानव को प्राप्त नहीं हो पा रही है। परिणामस्वरूप, मानव जीवन जीता हुआ भी, जेलखाने के सरीखा अनुभव करता है। रात और दिन मस्तिष्क में तनाव बना रहता है। वह कुछ भी सोच नहीं पाता। कदाचित् कुछ सोचता भी है, तो यह सोचता है कि क्या करें ! और इसी समस्या को हल करने के लिये, अशुभ बात भी सोच लेता है। उतावलेपन में, यह भी सोच लेता है कि इस झंझट की अपेक्षा तो समाप्त हो जाऊँ तो ठीक है। भगवान मुझे उठा ले। मैं बहुत कष्ट पा रहा हूँ। इस प्रकार की उलझमें मनुष्य को निकल कर देती हैं। इन सारी उलझनों से, यह जीवन भरा हुआ है। इनसे छुटकारा पाने का एक ही रास्ता सुगमता से मिल सकता है और वह है स्वाध्याय का। स्वाध्याय ऐसे तो स्वयं का अध्याय है। स्वयं का अध्ययन करना है। परन्तु स्वयं का अध्ययन हर व्यक्ति स्वयं नहीं कर पाता। उस व्यक्ति के लिये किसी का अवलंबन आवश्यक है।

विद्यार्थी विद्याध्ययन यद्यपि स्वयं करता है परन्तु उसके लिये अध्यापक की आवश्यकता होती है। विद्यार्थी सहसा वर्णमाला सीख जाय, ऐसी प्रायः स्थिति नहीं बनती। किसी को पूर्व जीवन का अर्थात् जातिस्मरण ज्ञान हो गया हो - चाहे प्रतिभासंपन्न, तीक्ष्ण बुद्धिवाला विद्यार्थी भी क्यों नहीं हो, उसको भी प्रारंभ में किसी-न-किसी

रहे थे, वहां दुर्गन्धयुक्त एक सड़ी कुत्ती को सड़क पर डाल दिया। वहां इतनी बदबू आ रही थी कि जितने लोग उस रास्ते से निकल रहे थे, वे सब नफरत कर रहे थे और नाक पर कपड़ा देकर चल रहे थे। कृष्ण का हाथी उधर आया। सब देख रहे थे। उन्होंने कहा, महाराज ! नाक ढांक लीजिए। परन्तु कृष्ण ने नाक नहीं ढांका। हाथी को बिठवाया और खुले नाक उस सड़ी कुत्ती के पास जाकर खड़े हो गए। बड़ी बारीकी से देखकर कहने लगे कि देखो ! इस कुत्तिया के मुंह की बत्तीसी कितनी सफेद लग रही है ! यद्यपि उस कुत्तिया के शरीर से दुर्गन्ध तो निकल ही रही थी, परन्तु श्रीकृष्ण ने उस दुर्गन्ध का विचार न करते हुए, उस कुत्तिया के दांतों की सफेदी का बखान ही किया। उन्होंने दुर्गन्ध की ओर ध्यान नहीं दिया किन्तु दांतों की सफेदी के गुण को ग्रहण किया। इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि भी दूसरे के दोषों को नहीं देखकर उसके गुणों को ही देखता है।

इस तरह जो व्यक्ति समदृष्टि भाव के आठ आचारों को श्रद्धा के साथ जीवन में स्थान देगा, वह मंगलमय जीवन पाने का अधिकारी बन जाएगा।

इत्यलम्

स्वाध्याय, उसके प्रकार एवं जीवन-निर्माण

प्रार्थना

**धार तरवारनी सोहेली दोहेली, चौदमा जिण तणी चरण सेवा।
धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवा नां धार पर रहे न देवा।।**

पाप नहीं कोई उत्सूत्र भाषण जिस्यो, धर्म नहीं कोई जग सूत्र सरिखो। सूत्र अनुसार जे भविक किरिया करे, तेह नु शुद्ध चारित्र परिखो।। धा.।।

बन्धुओ ! अभी आपने शास्त्र का श्रवण किया है। शास्त्र-वाचन

प्रकार की बाधा और रुकावट नहीं पड़े। इसलिए दयालु पिता अपनी संतानों को बिना पूछे ही हित, मित और विपत्ति निवारक बातों को बताता है और परिवार के सदस्यों को शांति के साथ आगे बढ़ाने की चेष्टा करता है। परन्तु परिवार के मुख्य सदस्य के समक्ष अवश्य एक उपेक्षाभाव है क्योंकि वह गहस्थाश्रम में रहा हुआ है। मोह का तांता उसके साथ है। वह उस मोह की बेल के वशीभूत होकर, परिवार के सदस्यों को तो बताता है न कि पड़ौसियों को अथवा अन्य व्यक्तियों को। यदि उसके मोह की परिधि, थोड़ी कम हो जाए, तो जैसे वह अपने परिवार के सदस्यों – परिजनों को हितकारी बातें दिल खोलकर बताता है, वैसे ही वह पड़ौसी को, समाज और जगत् के समस्त प्राणियों को बताने की भी चेष्टा करेगा। परन्तु यह बात बिरले ही गहस्थों में पाई जाएगी।

तीर्थकर देव, जिन्होंने विशाल परिवार में जन्म लेकर भी मोह को समझा। मोह के जाल को पहिचाना। वे सोचने लगे, कि मैं इस मोह के बंधन के लिये भी अपने परिवार के सदस्यों को अपना और दूसरों को बेगाना समझता हूँ। यह मेरे जीवन के लिए हितावह नहीं है। मैंने जीवन ग्रहण किये। संसार में उनकी गिनती नहीं। अनन्त जीवन लिए। उनका भरण-पोषण भी किया। उनके साथ रहते हुए, उनकी हित-साधना में अनेकानेक पाप भी किये। परन्तु मेरी आत्मा ने एक भी जीवन में ऐसा मार्ग नहीं अपनाया कि जिससे मेरी आत्मा सदा-सदा के लिए सुखी हो सके। अब मैं इस विशाल राज्य और परिवार के मोह में नहीं रहूँ। यद्यपि छोटे-मोटे, चुन्नु-मुन्नु, बाल-बच्चों पर अधिक मोह है। ये मुझको इस तांते से निकलने नहीं देते हैं। परन्तु यदि मैं इनके तांते के साथ बंधा रह गया, तो मेरी क्या विशेषता है? यह तांता तो तोड़ना ही पड़ेगा। कभी तो शुभभाव से इसको झटका देना ही पड़ेगा। इसमें इनका भी हित होगा और आत्मा का भी हित है। मोह जन्म मरण को बढ़ाने वाला है। यह ऐसा जहरीला मीठा रस है, कि वह व्यक्ति को मोहित करता रहता है। परन्तु तीर्थकर, परिवार को छोड़कर साधना के पथ पर चल पड़े।

अध्यापक की आवश्यकता तो रहती ही है। यदि अधिक प्रतिभासंपन्न है, फिर भी पहिले तो किसी अध्यापक की आवश्यकता रहेगी ही, भले ही बाद में स्वयं आगे बढ़ जाय। वैसे ही, इस जीवन को जीने की प्रारंभिक वर्णमाला के रूप में मनुष्य जीवन मिल गया। इस जीवन को हम कैसे जिएं? इसका ज्ञान भी जीवन के अन्य साधनों के साथ होना आवश्यक है। वह ज्ञान प्रायःकरके मनुष्य स्वयं नहीं पा सकता। उसको किसी के अवलंबन की आवश्यकता है। वह अवलंबन संत समागम है। यदि चौबीस घंटों में, एक घंटे-भर के लिये भी सत्संग करे और जीवन को समझने की चेष्टा करे तो यह अवलंबन दिन-भर के लिए प्रभावशाली होता है, उतना अन्य अवलंबन नहीं हो सकता। संतों की वाणी भी हर समय मनुष्य को उपलब्ध नहीं होती। पुण्ययोग से ही कभी संत-वाणी श्रवण करने का प्रसंग आता है। वह भी आध्यात्मिक जीवन की प्रेरणा अत्यन्त पुण्यवाणी से ही उपलब्ध हो सकती है। इसलिए संत-जीवन की सुलभता और वह भी वास्तविक संत-जीवन के संयोग की स्थिति, बिरले ही व्यक्तियों को मिल सकती है। सब उसे प्राप्त नहीं कर सकते। जब उसका संयोग सहज उपलब्ध नहीं हो तो जीवन जीने की कला सीखने के लिए, एक साधन स्वाध्याय का भी अनुभवियों ने सामने रखा है। अनुभवियों ने ही नहीं रखा, परन्तु केवलज्ञानियों ने अपने केवलज्ञान में विश्व के स्वरूप को देखने के बाद, जनसाधारण में अनन्त करुणा के स्रोत को प्रवाहित करते हुए, उन्होंने स्वाध्याय के स्वरूप को प्रश्न किये बिना ही स्वयं रखा। जो अत्यन्त हितैषी होता है, वही व्यक्ति बिना पूछे भी हितकारी बात कहे बिना नहीं रहता। परिवार में भी अत्यन्त स्नेही पिता, अपनी संतानों के लिए महत्त्वपूर्ण प्रेरणा और हितकारी बातों को उनके पूछे बिना ही स्पष्ट कहने में तत्पर रहता है। उसके मन में यही रहता है कि मैं मेरे स्वजन स्नेहियों का सहयोग ले रहा हूँ तो कुछ सहयोग भी दूँ। इनके जीवन में दुःख और झंझावात नहीं आयें, द्वंद्व की स्थिति नहीं बने और शांतिपूर्वक इनका जीवन चलता रहे। जो बातें इनके खयाल में नहीं हैं, तो मैं बता दूँ जिससे किसी

निर्देश दिया। उन्होंने जो उपदेश दिया, वह सूत्र के रूप में जनता के समक्ष रखा। जनता उस उपदेश को लेकर अपने जीवन का निर्माण, स्थिति के अनुसार कर सकती है।

भगवान महावीर हमारे नजदीक के तीर्थंकर रहे। भगवान महावीर का वह शरीरपिण्ड व्यक्ति रूप था और उसमें रहते हुए उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। भगवान महावीर के इस व्यक्तिपिण्ड में जो प्रकाश, जो दिव्यता, जो आलोकशक्ति आई, उस कारण ही भगवान महावीर के समय की जनता उनको याद करती रही है। उन्होंने देखा कि व्यक्ति को ही केवलज्ञान की स्थिति प्राप्त हुई है। यह केवलज्ञान की शक्ति समष्टि में नहीं होती। समष्टि में साधना की स्थिति कभी सामूहिक रूप से बन सकती है। परन्तु आत्मतत्त्व की उपलब्धि व्यक्ति को ही होती है। भगवान महावीर ने व्यक्ति को भी अपने जीवन का निर्माता बताया और अपना रास्ता स्वयं को ढूँढने की प्रेरणा दी। वर्तमान में उनका शासन चल रहा है। उनके उपदेश को गणधरों ने ग्रहण किया। गणधरों ने उसे सूत्र रूप में गूँथा। इस प्रकार चलते हुए भगवान महावीर के शासन को गणधर श्री सुधर्मा स्वामी ने सुशोभित किया। यद्यपि उस समय गौतम स्वामी भी विराजमान थे। परन्तु वे केवलज्ञानी हो गए थे। जो केवलज्ञानी हो जाता है, वह तीर्थंकर उत्तराधिकारी नहीं बनता है। केवलज्ञानियों के, पूर्वधारियों के विद्यमान रहते हुए भी, तीर्थंकर के उत्तराधिकारी के रूप में सुधर्मा स्वामी ने उत्तराधिकार संभाला। वैसे वे छद्मस्थ थे। और छद्मस्थ ही उत्तरदायित्व को लेकर चलते हैं। जब सुधर्मा स्वामी को केवलज्ञान हो गया, तो उन्होंने अपना उत्तराधिकार जंबू स्वामी को संभला दिया। सूत्रों की परंपरा सीधी सुधर्मा स्वामी से शुरू होती हुई, जंबू स्वामी और उस पाट से आज तक पच्चीस सौ वर्ष से कुछ अधिक बीत गए, फिर भी शास्त्रों की परम्परा और धारा अबाध गति से प्रवाहित हो रही है। वह हमारे लिए आधार बनी हुई है। उसी वाणी के आधार पर आज आप और हम सब परस्पर में सुनने-सुनाने की क्रियाएं कर रहे हैं।

साधना के पथ पर चलने के लिए उनको न साथी की आवश्यकता है, और न शास्त्रों के स्वाध्याय की आवश्यकता है। ऐसे बिरले पुरुष, स्वतः अपना स्वाध्याय करके, अपने जीवन के परम स्वरूप को पा लेते हैं। अपने जीवन को उन्होंने स्वयं पाया। वे केवलज्ञानी हो गए, कतकृत्य हो गए। परन्तु केवलज्ञान तभी हुआ जब सर्वथा मोह चला गया। जब मोह चला गया, तो ज्ञान के ऊपर पर्दा डालने वाला ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शन को ढांकने वाला दर्शनावरणीय कर्म और शक्ति का बाधक अन्तराय कर्म एक साथ नष्ट हो गये। इस प्रकार चारों घनघाति कर्म की चौकड़ी के नष्ट हो जाने से आत्मा को केवलज्ञान, केवल-दर्शन प्राप्ति हो गयी। केवलज्ञान और केवलदर्शन की अपेक्षा से तो अरिहंतों और सिद्धों की समानता है। क्षायिक चारत्र और अनन्तशक्ति की अपेक्षा से भी समानता है, क्योंकि सिद्धों में भी स्वरूपाणता रूप चरित्र होता है। सिद्ध आठों कर्मों से विमुक्त होकर, अशरीरी हो गये हैं, किन्तु अरिहंतों के चार अघाति कर्म रहते हैं, परन्तु वे जलती हुई रस्सी की तरह प्रभावहीन होते हैं। वे उनके लिए बाधक नहीं होते।

इस प्रकार वे अरिहंत अपने स्वयं के स्वाध्याय से कतकृत्य होकर, परिपूर्ण बन गए। अब उनकी स्वयं की साधना तो पूरी हो गई। उनके स्वयं के लिए अब कोई साध्य नहीं रह गया। अतएव उन्होंने जगत् के कल्याण के अपने उपदेशामत की धारा प्रवाहित की। वे अनन्त करुणा के सागर, परम दयालु, वे केवल एक परिवार के ही परम पिता नहीं हैं। परन्तु समस्त संसार के त्रस और स्थावर जीवों के क्षेमंकर रहे, सब के कल्याणकारी रहे। तो इन सब प्राणियों की अनुकंपा के लिये, जीवन की सुरक्षा के लिये, भगवान ने हितकारी और पवित्र कला बताने के लिये उपदेश दिया। इस उपदेश का चिन्तन-मनन ही स्वाध्याय है। इसके पांच भेद हैं— वाचना, पच्छना, पर्यटना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। ये सब धर्म के अंग हैं। उपदेश भी दिया, वाचना भी दी। वाचना उन्होंने गणधरों को दी। अपनी पद्धति से दी। भव्य प्राणियों के लिए उन्होंने स्वाध्याय का

कारण है और वह यह है कि अन्यान्य व्यक्ति अपने घरेलू कार्यों में उलझे रहते हैं। अतः सभी बातों का निष्कर्ष नहीं निकाल सकते हैं, मक्खन नहीं ले सकते हैं। परन्तु संतों का एक ही कार्यक्रम होने से वे विश्व के सारे सिद्धान्तों का निचोड़ निकाल लेते हैं और जनता के सामने रख देते हैं।

जो इस चीज को समझ लेता है, वह तो सोच लेता है कि मैं चाहे कितनी ही डिग्री वाला होऊँ, किन्ती ही विषयों का ज्ञाता होऊँ परन्तु ये कुछ महत्त्व नहीं रखते। तो वहाँ पहुँचकर वह ठीक तरह से लाभ उठाता है। कदाचित् जीवन में ऐसा प्रसंग नहीं आया तो स्वाध्याय के मार्ग पर चल पड़ता है। यह मनुष्य जीवन की विशेषता है। ऐसे समय में, चौमासे का शुभ योग मिल जाने पर भी पर्युषण के दिन बीत जाने के बाद लापरवाही हो जाती है। वह सोचता है कि अब क्या है ! अब तो छुट्टे हैं। यह सोचकर हित-संपादन नहीं करता। वह नहीं सोचता है कि जो सत्संग का प्रसंग और स्वाध्याय का अवसर संतों की मौजूदगी में मिलता है, उस अवसर को एक दिन भी नहीं छोड़ना चाहिये। उसका जितना बन सके उतना लाभ उठाना चाहिए और उनके हितोपदेश को हृदय में धारण करना चाहिए। उसका रसास्वादन करते रहना चाहिये। सुज्ञ पुरुष तो निश्चित ही लाभ उठाने से वंचित नहीं रहते। यह लाभ भी सदा-सदा के लिये नहीं मिलता है। संतों के रहते हुए यह भी निश्चय कर लेना चाहिए कि जैसे मेरी कोठी खाली नहीं रहती, उसमें अन्न जुटाकर रखता हूँ, पानी टंकी में रखता हूँ, वैसे ही जो चार महीने तक संतों से श्रवण किया, तो अन्न की कोठी के समान और पानी भरने के टंकी के समान आत्मा में भर लूँ। यह शक्य नहीं है कि वह सब याद रख सकूँ। उनको याद रखने के लिये अवलंबन आवश्यक है। वह अवलंबन है वीतराग वाणी रूप जो शास्त्र है, सूत्र है, उनका प्रतिदिन वाचन करूँ। उनको समझने में यदि पूरी गति नहीं होती है, तो उनके हिंदी अनुवाद की जो पुस्तकें हैं, उन पुस्तकों को भी पढ़ा जा सकता है। जिन शास्त्रीय गाथाओं का विवेचन संतों

तो सुज्ञ जब अवश्य सोचते हैं कि घरेलू कार्य, जो संसार की परिधि के हैं, ये रात और दिन मनुष्य को उलझाने वाले हैं और कोई सुलझने की स्थिति है, तो वह संत-समागम ही है, तो वे वहाँ पहुँचते हैं। इस संत-समागम में उनको पूर्ण रूप से शुद्ध श्रद्धा लाने की आवश्यकता है। संत चौमासे से सहयोग दे सकते हैं। परन्तु चौमासे में भी कुछ व्यक्ति तो वंचित ही रह जाते हैं। वे आलस्य कर जाते हैं। ऐसे तो बैठे-बैठे आलस्य में घंटों ही बीत जाते हैं। परन्तु उनको यह इच्छा नहीं जगती है कि मैं आलस्य और प्रमाद में जो समय व्यतीत कर रहा हूँ उसकी अपेक्षा संत-समागम में बैठकर कुछ सुनूँगा और अधिक समझ में नहीं भी आएगा, तो भी पुण्यबंध तो होगा। यह भी लाभ क्या कम है ? कम नहीं है। परन्तु ऐसा चिन्तन भी कुछ व्यक्ति नहीं कर पाते। अतः वे वंचित ही रहते हैं। आधुनिक युग में भौतिक शिक्षा पाए हुए, कॉलेज या स्कूल के विद्यार्थी वहाँ के संस्कारों से ओत-प्रोत होकर सोच लेते हैं कि अब हम बड़े-भारी विद्वान हो गए। वे सोच लेते हैं कि हमारे जैसी डिग्री तो इन संतों ने प्राप्त नहीं की, तो फिर इनके पास जाकर क्या लेंगे ? हम जैसी सुंदर, लच्छेदार भाषा में बोल सकते हैं, इंग्लिश में बोल सकते हैं, तो इनको तो वह भाषा आती नहीं। फिर हम जा करके क्यों व्यर्थ समय बर्बाद करें ? वे कुछ अहं वृत्ति में रह जाते हैं। परन्तु वे यह नहीं सोच पाते हैं कि व्यक्ति एक विषय में प्रवीण होता है, सभी विषयों में नहीं होता। संत जिस विषय में प्रवीण हैं, उसमें गहस्थ नहीं हैं। एक किसान खेती करना जानता है, परन्तु व्यापारी खेती करना नहीं जानता। यदि व्यापारी को खेती का काम सीखना है, तो चाहे वह व्यापार में कितना ही निपुण हो, अनुभवी हो परन्तु खेती का काम सीखने के लिए, उसे किसान के पास जाना ही होगा। चाहे कोई डिग्रीयापता विद्यार्थी है, परन्तु उसे सोने-चांदी का व्यापार सीखना है, तो किसी सर्राफ के पास जाकर ही सीखना होगा। इसी प्रकार जिसे जीने की कला और आध्यात्मिक कला सीखनी है, तो उसे संतों के पास ही जाना होगा। यह कला अन्यत्र नहीं पाई जाती। इसका भी

भयंकर पाप तो नहीं कर रहा हूँ ! उत्सूत्र-प्ररूपणा करके, जनता को गड्ढे में तो नहीं डाल रहा हूँ। जो जगत् का कल्याण करने वाले सूत्र हैं उनकी विपरीत प्ररूपणा तो नहीं कर रहा हूँ। व्यक्ति पैसों के लालच में आकर पाप कर बैठता है। इसी लालच से शास्त्र की उलटी प्ररूपणा पर बैठता है। वेश्यागमन का पाप, चोरी-जारी का पाप जितना भयंकर गिना जाता है, उससे भी भयंकर पाप, उत्सूत्र-प्ररूपणा का है। जब ऐसी उत्सूत्र-प्ररूपणा जनता के सामने आती है, और जो उन्हें पढ़ता है, वह सहसा उस पर विश्वास कर लेता है। भगवान की वाणी पर विश्वास नहीं करता है। उनको चाहिये कि वीतराग वाणी को ठीक तरह से समझें। किसी ने कोई कुतर्क दी हो, तो उसे अपने मस्तिष्क में नहीं बैठायें और न जनता के मस्तिष्क में बैठायें। कभी-कभी श्रद्धाहीन व्यक्ति अपने ज्ञान का दुरुपयोग कर कुतर्क रख देते हैं, और सोचते हैं कि यदि कोई हमारा सामना करेंगे, तो हम कुतर्क से उन्हें दबा देंगे, मुंह बंद कर देंगे। इस प्रकार, अहंकार की भट्टी में जलते हैं। परन्तु इससे वे अपना और दुनिया का विकास नहीं कर पाते। ऐसे व्यक्ति लेख लिखकर दुनिया के मस्तिष्क को विकृत कर देते हैं। यही सारा मामला आज संसार के सामने है। मैं तो तत्त्व की दृष्टि से आपके सामने रख रहा हूँ। आप स्वाध्याय तो करें, परन्तु कौनसे ग्रंथ हमारे लिये हितावह हैं, उनका ठीक तरह से अवलोकन करें। प्रमाणित ग्रन्थों के स्वाध्याय का सिलसिला चालू करेंगे, तो सही तरीके से स्वाध्याय हो सकेगा। अठारह पापों में मिथ्यात्व भयंकर पाप है। उत्सूत्र-प्ररूपणा भयंकर मिथ्यात्व है। यह शास्त्र-विलोडन करने, अनुशीलन करने से सहज ही ज्ञात हो सकता है। कवि आनन्दघनजी यद्यपि अपनी स्थिति से चले। परन्तु अंत करण से शास्त्रसम्मत कविता की कड़ियां स्फुरित हुई। वही मैं आपके सामने रख रहा हूँ। परन्तु कुछ लोगों ने उनमें भी मिलावट कर दी। उनकी चौबीसी में यह चौदहवें भगवान की स्तुति है। यह क्रमिक रूप से नहीं है। वे बाईस तीर्थकरों की स्तुति कर पाए। चौबीस की नहीं की। उनकी

ने किया है, वे पुस्तकें भी उपलब्ध हैं। तो आप स्वाध्याय का लाभ ले सकते हैं। जैसे संतों की सेवा में उपस्थित होकर हम आत्मशुद्धि और निर्जरा करते हैं, वैसे ही स्वाध्याय के द्वारा भी की जा सकती है। भगवान महावीर के समक्ष प्रश्न आया कि भगवान ! "सज्जाएण भंते। किं जणयज्ज ? गोयमा ! सज्जाएणं नाणावरणीज्जं कम्मं खवेइ।" हे भगवन् ! स्वाध्याय से क्या फल होता है ? तो भगवान ने उसका उत्तर दिया, स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है। प्रश्नकर्ता ने जो छोटे-छोटे प्रश्न रखे और भगवान ने जो उनके उत्तर दिये, इससे उनकी अनन्त करुणा का द्योतन हो रहा है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में भगवान महावीर ने स्वयं फरमाया कि "सब्ब जगजीव रक्खण दयट्टयाए भगवयापावयणं सुकहियं" जगत् के सब जीवों की रक्षा के लिये तीर्थकर देव प्रवचन फरमाते हैं। अतः भगवान् द्वारा प्ररूपित प्रवचन का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जिस ग्रंथ का स्वाध्याय किया जाए वह ग्रंथ किसी आगम-निष्ठ, श्रद्धालु महापुरुष के द्वारा रचित तो या अनूदित हो। जो ग्रन्थ दुनिया को खुश करने की दृष्टि से, शास्त्र के नाम से प्रकाशित हों और जिनमें उत्सूत्र प्ररूपणा हो, शास्त्रीय शब्दों के अर्थ कुछ के कुछ कर दिये गए हों और महापुरुषों का मनगढन्त चित्रण कर दिया गया हो, ऐसे ग्रंथ स्वाध्याय के योग्य नहीं होते। इसलिये श्रद्धालु व्यक्तियों को इसका ध्यान रखना चाहिए।

बंधुओ ! आज के युग में ऐसा भी होता है। मैं उस व्यक्ति का नाम नहीं ले रहा हूँ। वह साक्षात् मेरे समक्ष नहीं। परन्तु जैन कुल में और जैन परिवार में जन्म लेने वाला व्यक्ति है। वह अपनी पी. एच.डी. की परीक्षा पास करके ऐसा भी ग्रंथ लिख गया है, जिसको यदि कोई विद्यार्थी पढ़े और स्वाध्याय करे, तो उसका जीवन और भी श्रद्धाहीन बन जाए। इसलिए, मैं उस ग्रंथ के विषय में इतना ही कहूँगा, कि वह ग्रंथ उस भाई ने सिर्फ आजीविका उपार्जित करने के लिये प्रकाशित किया है। उसने उसमें मनगढन्त बातें रख दी हैं। उसने यह नहीं सोचा कि सूत्र के विपरीत प्ररूपणा कर के कोई

जान खतरे में पड़ जाती है। जैसे वह मिलावट करके दुनिया का अहित करता है, उसके मन में मनुष्यों की दया नहीं है, तो भयंकर पाप करता है। वैसे ही जो पवित्र सूत्र हैं, उनको लालची, स्वार्थी व्यक्ति यशः-कीर्ति के वशीभूत होकर और जहर के तुल्य उत्सूत्र-प्ररूपणा कर देते हैं। साधारण लोग उसे नहीं समझ पाते हैं। वे तो समझते हैं कि शास्त्र की व्याख्या चल रही है। जब मैं इंदौर में था तो एक भाई आया और वह प्रश्न करने लगा कि महाराज ! देखो ! मनुष्य कुछ नहीं करता है। यह सब-कुछ अपने-आप हो जाता है। मोटर चलती है, यह अपने-आप चलती है। ड्राइवर नहीं चलाता है। हमाल गेहूँ की बोरिएँ उठाकर जो जा रहा है, तो वे अपने-आप जा रही हैं। कोई उठाकर नहीं ले जा रहा है। मैंने कहा कि किसके प्रभाव में पहुँच गए हो ! उसने कहा कि 'समयसार' में लिखा है। तो मैं बताऊँ कि जहर कहां घुस गया है। पहिले तो ठीक अर्थ किया और बीच में उत्सूत्र का जहर मिला दिया तो सही ज्ञान नहीं होगा। तो वह कहने लगा— महाराज ! हम तो समझ नहीं पाए। आज विद्वान लोग अच्छे-अच्छे हैं, उनकी कद्र करनी चाहिए। परन्तु व्यापारी की तरह यदि वे ब्लेक करने लगे तो इन कुतर्कों से बचने के लिये ध्यान रखना है। विद्वानों को चाहिए कि पैसा कम मिले तो कुछ नहीं, परन्तु सूत्र के मुताबिक उसका अर्थ उद्घाटित करें। इससे वे बड़ी-भारी सेवा करेंगे और जीवन में पुण्यवानी बांधेंगे। मैं तो सत्य की दृष्टि से कह रहा हूँ। सम्प्रदाय और व्यक्तिवाद से ऊपर उठकर, प्रामाणिक और श्रद्धानिष्ठ लेखकों की रचानाओं और कतियों का ही स्वाध्याय करना चाहिए।

यदि लेखक सच्चरित्र है, तटस्थ है, वीतरागवाणी के अनुसार चलने वाला है तो कोई गलती भी हो गई हो, तो वह क्षम्य है। परन्तु जो श्रद्धालु नहीं है और श्रद्धा उठाने की दृष्टि से लिखता है, तो उसके सूत्र सही नहीं रह पायेंगे। ऐसे व्यक्ति की परीक्षा तो करनी पड़ेगी। व्यक्ति के साथ ही सारे के सारे संबन्ध जुड़े हैं। व्यक्ति से समाज, परिवार, राष्ट्र और विश्व का संबन्ध है। व्यक्ति को व्यक्ति

जीवनी में भी लिखा हुआ है कि दो भगवान की स्तुति छूट गई। पीछे से किसी विद्वान ने दो स्तुतियों की मन-कल्पित रचना कर दी। और वे भी उन्हीं के नाम से चल रही हैं। परन्तु छंटनी करने वाले ही छंटनी कर सकते हैं। दाईं से पेट नहीं छिप सकता है। वह तो प्रकट हुए बिना नहीं रहता। कहाँ तो आनन्दघन की गम्भीर रचना और कहां थोथी-सी तुकबंदी। मैं तो सिर्फ इसी दृष्टि से कह रहा हूँ कि आनन्दघनजी की जो रसप्रधान कविताएं हैं, उनका विवेचन करता हूँ तो मेरे विवेचन से भव्यजन यह नहीं समझ लें कि उनकी ही हैं। तो उसको भी साफ करने के लिये मैं कह रहा हूँ कि नौवें और बाईसवें भगवान की स्तुति, उनकी कविता के अनुरूप नहीं बैठती हैं। ये दोनों बाहर से आई हुई हैं। परन्तु जो भी कविताएँ उन्होंने कहीं, उनमें भी संकेत आया है कि—

**“धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवानां धार पर रहे न देवा
पाप नहीं कोई उत्सूत्र भाषण जिस्यो, धर्म नहीं कोई जग सूत्र सरिखो
सूत्र अनुसार जे भविक क्रिया करे, तेहनु शुद्ध चारित्र परिखो।।
पाप नहीं उत्सूत्र भाषण जिसो।।”**

कवि आनन्दघनजी ने भी यही कहा कि उत्सूत्र-प्ररूपणा जैसा कोई पाप नहीं है। उसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपने स्वार्थ में आकर पैसों के लोभ में, यश की लालसा में, संपत्ति की लालसा में क्या नहीं कर बैठता है ? लालसा केवल पैसे की ही नहीं होती। सब तरह की लालसाएं होती हैं। कभी-कभी ऐसा प्रसंग भी आता है कि यशः-कीर्ति या पैसे के लोभ में आकर व्यक्ति उत्सूत्र-प्ररूपणा कर बैठता है। जो सूत्र सारे जगत् का कल्याण करने वाले हैं, उनकी उत्सूत्र-प्ररूपणा कर वह सारे जगत का अहित कर रहा है। स्वार्थ के वशीभूत होकर व्यक्ति दवा में मिलावट कर देता है। सुना जाता है कि, 'क्लोरोमाइसिटीन' को गोलियां बड़ी महंगी हैं, उनमें मिलाकर करके, नकली दवा बना देता है। ये गोलियां, टाइफाइड की बीमारी में दी जाती हैं। जब नकली दवा ली जाती है, तो उसकी

और पर का हित नहीं कर सकता। येन-केन-प्रकारेण वह क्रूर काम करने को तैयार हो जाता है। पहाड़सिंह को भी इस भद्रस्वभावी राजकन्या से प्रेरणा लेनी चाहिए थी। नारियां विकारपूर्ति का साधन हैं, यह भ्रमभरी बात है। उनमें धार्मिक श्रद्धा और तेजस्विता होती है। उनमें बड़ी शक्ति है। बहिर्नें अपनी शक्ति को समझे। विकारों के आधिपति नहीं हों। विकारों को पैरों तले कुचल दें। विकारों पर नियंत्रण हो जाय तो बहुत-सी बीमारियां मिट जाएं। कई महासतियों के उदाहरण हमारे सामने हैं— जैसे चंदनबाला और रथनेमी को ठिकाने लानेवाली राजीमती। इसी प्रकार से अन्य सतियों के उदाहरण भी हैं। लंका में सीताजी रहीं, तो उन्होंने रावण को बोध देने की चेष्टा की। परन्तु रावण से भी अधिक कामी पहाड़सिंह को बोध नहीं हुआ। सती भव्यशीला पर जब पहाड़सिंह आक्रमण करने पर उतारू हो गया, तो वहां के अंगरक्षकों ने उसे पकड़ कर जेलखाने में डाल दिया। यह सब-कुछ कार्य बन रहा है, अनीति के कारण। अब क्या हुआ:

समुद्रसिंह की तिथि आई, आया समय पर अति हर्षाई किया समय निरधार, समता श्रेयकारी।।

भव्यशीला ने पहाड़सिंह को सब तरह से समझाने की चेष्टा की। परन्तु वह तो विकारों में डूबा हुआ था। नियंत्रण से बाहर हो गया। रावण का भी दादा बन गया। रावण का दादा इसलिए हुआ कि रावण इस तरह से चल रहा था कि आक्रमण किसी पर नहीं करना। और यह पहाड़सिंह तो आक्रमण करने के लिए भी तैयार हो गया। शस्त्र भी चलाना चाहता था। वहां तो राजा ने अच्छी तरह इन्तजाम कर रखा था, वह इस सती के ऊपर आक्रमण नहीं कर पाया। और वहां पर तैनात अंगरक्षकों ने उसे पकड़ लिया। वह राजा भी निहत्था था, उसके पास शस्त्र नहीं था। उसे जेलखाने में डाल दिया गया। उसके राज्य की जनता ने बहुलता से कहा कि हमारे राजा पहाड़सिंह पकड़े गए तो बहुत ठीक हुआ। हम इस राजा की क्रूरता का प्रतिकार नहीं कर सके, परन्तु सहज ही प्रतिकार हो गया

और समष्टि को समष्टि के रूप में समझो। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आप स्वाध्याय ही छोड़ दें। स्वाध्याय यदि छोड़ दिया, तो उसने अन्न-जल लेते हुए भी महत्त्वपूर्ण अंग छोड़ दिया। चौबीस घंटों में कम से कम एक घंटा तो स्वाध्याय करना ही चाहिये। भोजन में दो घंटे लगें, तो अड़तालीस मिनट की स्वाध्याय करना चाहिए। यदि आधा घंटा भी स्वाध्याय कर लिया तो क्या फल मिलता है, यह आप स्वयं अनुभव करेंगे। स्वाध्याय को अपने जीवन का अंग बनाकर, अपने जीवन को समुज्ज्वल बनाने के लिये आधा घंटा तो स्वाध्याय प्रतिदिन करें। धर्मनिष्ठ माताएं भी आधा घंटा तो स्वाध्याय करें। उसमें स्व. आचार्यश्री जवाहरलालजी म. का साहित्य है, जिसमें 'सम्यक्त्व प्रकरण' नामक पुस्तक का भी स्वाध्याय कर सकते हैं।

बंधुओ ! उपन्यास आदि साहित्य जीवन को अधोगति में ले जाने वाले हैं। घासलेटी उपन्यासों के पठन ने ही तो संसार के रूप को बिगाड़ा है। उनको शास्त्रों की बातें पसंद नहीं आती हैं देखिए, बचपन से जिसने इस विषय को समझा, उसका जीवन कैसा कलात्मक ढंग से ऊपर उठ गया। भव्यशीला कैसी बाला है, जो राजकन्या होने पर भी अपने जीवन को कैसा संवार रही है।

चरित्र

समता श्रेयकारी, तू ले जीवन में धार।

**इसका भी तो चिंतन करना, बलाबल को ध्यान में
रखना**

फिर करना विचार, समता श्रेयकारी।।

पहाड़सिंह भव्यशीला के समक्ष आया। बड़ी लालसा से आया। वह लालसा विकारी थी। उस लालसा की पूर्ति नहीं हुई। पूर्ति होती कैसे ? लालसा उसके सिर पर चढ़ गई थी। विकारों ने उसको दबा दिया था। जो व्यक्ति विकारों से दब जाता है, वह व्यक्ति विवेक भूल जाता है। और जिसका विवेक विलुप्त हो गया वह अपना

हरा नहीं रहा। अब कृपा करके हमको उत्तर दीजिए। तब चीन के नरेश ने कहा – भाई। अभी तो आधा काम बना है। जब तक यह वक्ष पुनः हरा नहीं होगा, तब तक उत्तर नहीं दिया जाएगा।

अब यह वटवक्ष हरा कब होगा ? यह भावना पुनः उन पांच सौ सुभटों की बनी। सामूहिक उत्कट भावना के कारण दो माह में ही वह वटवक्ष पुनः हरा-भरा हो गया। वे खुश होते हुए पुनः चीन के नरेश के पास पहुँचे और कहने लगे कि महाराज ! अब तो आपकी दोनों शर्तें पूरी हो गईं। अब तो उत्तर दीजिए। तब नरेश ने कहा कि, उत्तर मिल गया न ! वे कहने लगे- हम आपकी बात समझ नहीं पाए। राजा ने कहा कि नहीं समझे तो हमारे कहने पर भी क्या समझोगे। उन्होंने कहा – हमारी बुद्धि इतनी तीव्र नहीं कि हम इशारे में समझ जायें। तब राजा ने रहस्य समझाते हुए कहा – देखो ! जैसे तुम पांच सौ व्यक्तियों ने एक साथ दढ़ भावना की कि कब यह वक्ष सूखे और हम उत्तर पायें। तुम्हारी भावना का अदृश्य रूप में असर

और पकड़ लिया गया। जब सामूहिक रूप से भाव बनते हैं, तो उनका असर व्यक्ति पर भी पड़े बिना नहीं रहता है। अनीति का प्रभाव जयादा दिन नहीं रहता है। अनीति व्यक्ति को परास्त कर ही देती है।

एक समय की बात है – एक ऐतिहासिक घटना है कि हिंदुस्तान के नरेश ने चीन नरेश के पास पाँच सौ सुभट भेजे। वे वहां पहुँचे और चीन के नरेश से अर्ज की कि हमें हमारे महाराज ने आपके पास एक जानकारी के लिए भेजा है। तब चीन के नरेश ने कहा कि आप क्या जानकारी चाहते हैं ? उन्होंने कहा, हमको राजनीति की जानकारी नहीं चाहिए। हमारे महाराज यह सब-कुछ तो जानते हैं। परन्तु एक रहस्य को जानने के लिये पांच सौ सुभटों को भेजा है। और वह यह है कि चीन के राजागण बहुत लंबा आयुष्य जीते हैं। वे जल्दी नहीं मरते हैं और हिंदुस्तान के राजागण जल्दी मर जाते हैं। तो आप कौनसी औषधि लेते हैं। बस ! इसी जानकारी के लिए भेजा है। चीन का नरेश बहुत बुद्धिशाली था। उसने सोचा कि इसका जवाब इन्हें सही ढंग से देना चाहिए। उसके वहां एक वटवक्ष था। उस वटवक्ष के नीचे उन पांच सौ ही सुभटों के कैंप लगवा दिये और वहां ठहरा दिये, और कहा कि आप यहां रहो। मैं कुछ दिन बाद इसका उत्तर दूंगा। वे सैनिक जबाब पाने के लिये उतावले हो रहे थे। चीन के सम्राट् ने कहा – देखो, जब तक यह वक्ष नहीं सूख जाएगा, तब तक आपको उत्तर नहीं मिलेगा। इधर तो चीन नरेश की यह आज्ञा हुई और उधर की आज्ञा थी कि उत्तर लिये बिना मत आना। अब पांच सौ व्यक्तियों की सामूहिक भावना बनी, रात-दिन, उठते-बैठते यही चिन्तन करने लगे कि कब यह वटवक्ष सूखे और उत्तर मिले, कब हम हिंदुस्तान जायें और परिवार से मिलें। एक ही भावना सब की चल रही थी। संयोग की बात है कि लगभग दो माह के अंदर ही वह वटवक्ष सूख गया। उनकी खुशी का पार नहीं रहा। अब वे पुनः चीन नरेश के पास पहुँचे और कहने लगे कि आपकी शर्त पूरी हो गई है। वटवक्ष सूख गया है। एक भी पत्ता

राजा को छुड़ाने में सहयोग दे। किन्तु जनता के प्रतिनिधि ने कह दिया कि हम ऐसे शासक के लिये सहयोग नहीं दे सकते।

भूपति मंडल के दूसरे सदस्य थे समुद्रसिंह और उन्हें भी तिथि दी गई। तो वह भी उमंग से, सज-धज के साथ राजधानी में पहुँचा। जैसी पहाड़सिंह ने पहुंचने की तैयारी की थी, वैसी ही इसने भी तैयारी की। और महाराज जयसिंह ने अंगरक्षकों को सावधान रहने की हिदायत दी। बाला की प्रतिभा अलौकिक है कि इसने कैसे राजाओं के मन पर अंकुश लगाया। परन्तु तुम खयाल रखना। और जैसे वह भव्यशीला के पास जाने के लिए कहे, वैसी ही इसको ले जाया जाए। और तुम दूर खड़े रहकर पूरा ध्यान रखना। यह राजा भी अपना नियंत्रण खो दे तो इसका पूरा खयाल रखना। क्योंकि यह भी जोश में आकर कहीं राजकन्या का अहित नहीं कर बैठे। इस सूचना को पाकर सारे अंगरक्षक, इस समुद्रसिंह की हरकतों का ध्यान रख रहे थे। अब यह कैसे जाता है और क्या करता है, यह आगे की बात है।

चिंतन करिये कि आज जीवन-निर्माण की दृष्टि से कौनसा निमित्त कामयाब हो सकेगा। बचपन से स्वाध्याय का अवलंबन ले लिया जाय तो जीवन में कितनी ही आपत्तियाँ और विकार आयें, यह स्वाध्याय, बचाव कर सकेगा। इस प्रकार जो जीवन में स्वाध्याय का अवलंबन लेकर चलेंगे, उनका जीवन मंगलमय होगा।

इत्यलम्

वन्दन कैसे करें ?

प्रार्थना

धार तरवार नी सोहेली, दोहेली, चौदमा जिण तणी चरण सेवा।
धार पर नाचता देख बाजीगर सेवाना धार पर रहे न देवा।।
पाप नहीं कोई उत्सूत्र भाषण जिस्यो, धर्म नहीं कोई जग सूत्र सरिखो-

ऐसा हुआ कि वक्ष सूख गया। पुनः जब यह मन में भावना पैदा हो गई कि यह कब हरा हो। निरंतर पांच सौ की भावना यह चलती रही, तो यह हरा हो गया। इसका यह रहस्य है कि मैं जनता के बीच में रहता हूँ, जनता की सुख-सुविधा की दृष्टि से मार्गदर्शन करता रहता हूँ। उनकी दुख-सुख की स्थिति में साथ रहता हूँ। मैं समझता हूँ कि ये मेरे भाई हैं और भाईचारे की भावना से काम करता हूँ। मेरी जनता की भावना मेरे प्रति यह है कि हमारे महाराज अधिक दिन जियें, शतायु हों। तुम लोग अपने राजा को कह देना कि यदि वे जनता की भावना के विपरीत चलेंगे और स्वच्छंदाचार से चलेंगे तथा उनके दुख-सुख का ध्यान नहीं रखेंगे तो आम जनता की भावना बन जाएगी कि ये कब मरें और नये राजा आयें। भावना भी काम कर जाती है। यह रहस्य उन्हें समझा देना। वे ऐसा कार्य करें कि जनता उन्हें शुभ आशीर्वाद देती रहे। किसी से लड़ाई-झगड़ा नहीं हो, प्रेम से समझेंगे। वाणी की उदारता रखनी चाहिए। कंजूसी नहीं लानी चाहिए। परन्तु लोग वाणी में भी और बोलने में भी कंजूसी कर जाते हैं। प्रेम से बोलें, उनका कालेजा ठारें। वह रूपक तो पूरा हुआ।

मैं कह रहा था कि पहाड़सिंह की जनता की भावना पहाड़सिंह से विपरीत थी। वह चाहती थी कि ऐसे शासक का अन्त हो, पकड़े गये तो अच्छा है। क्योंकि हमारी शक्ति नहीं कि हम पकड़ कर उसे जेल में डालें। यह सामूहिक भावना काम कर रही थी। वह भव्यशीला के पास विकार भावना से पहुँचा और आक्रमण करने की चेष्टा की, तो पकड़कर जेल में डाल दिया गया। यह बात सुनकर जनता खुशी मनाने लगी। उसकी भावना काम कर गई कि हमारा शासक जेल में पड़ गया है। दूसरे कर्मचारी कहने लगे कि जनता

इन्हीं उलझनों के बीच में जो-कुछ बन सकता है, वह कहता हूँ। कभी-कभी जिज्ञासु महानुभाव अंतर् की जिज्ञासा प्रकट कर देते हैं और चाहते हैं कि हम भी संक्षेप में कुछ सार पा जावें। जीवन के निचोड़ को लेकर मानव-तन को सफल बना जाएं। संसार की विचित्र दशाएं, विविध द्वन्द्वों और विषमता के साथ चल रही हैं। उनके बीच में प्राणी, शांति और विश्राम नहीं पा रहा है। जिज्ञासु जन सोचते हैं कि ऐसे विकट प्रसंग पर, कहाँ तो हम शास्त्रों का दोहन करें और कहाँ उनका निष्कर्ष और निचोड़ निकालकर मक्खन की तरह जीवन में उतारने की चेष्टा करें। हम अन्य-अन्य विषयों में संलग्न रहने से आध्यात्मिक जीवन के लिये समुचित समय नहीं निकाल पाते हैं। तो क्या ही अच्छा हो कि हम संतों के सामने ऐसे प्रश्न रखें कि जिनसे थोड़े में काम बन जाए। जीवन की समग्र समस्याओं का हल हो जाय। समग्र पापों से मुक्त हो जायें। संभव है, इस प्रकार की भावना सभी के दिलों में नहीं जागती हो। परन्तु कुछ-न-कुछ अंकुर प्रस्फुटित होता ही रहता है। उसकी अभिव्यक्ति यदा-कदा रात्रि के समय में चलने वाले प्रश्नों में हो ही जाती है। सोमवार के दिन रात्रि के समय में प्रश्नोत्तर का सिलसिला चल रहा था। मारवाड़ के प्रसिद्ध व्यवसायी देशनोक के श्रीमान् दीपचंदजी भूरा, विद्वद्वर्य विजयमुनिजी से प्रश्न कर रहे थे कि महाराज सा. ! नमस्कार मंत्र महामंत्र बताया गया है और अंत में कहा गया है— “सव्य पावप्पणासणो”। तो महाराज ! जाप करने से सब पापों का नाश कैसे हो सकता है ? संत अपनी प्रज्ञानुसार जवाब तो दे ही रहे थे। मैं चुपचाप सुन रहा था। ऐसा लग रहा था कि भूराजी पूरे संतुष्ट नहीं हो पाए। मौन होने से मैं उत्तर नहीं दे पाया। मैं सोचता हूँ कि नमस्कार महामंत्र समग्र वीतराग-वाणी का मक्खन है। दूसरे शब्दों में कहूँ तो संसार के समग्र मत, पंथ, समस्त सिद्धान्त, भौतिक विज्ञान, आध्यात्मिक विज्ञान इसमें से व्यक्त होते हैं। सारे लोक का सार रूप निचोड़ इस नमस्कार महामंत्र में भरा हुआ है। इसको ठीक तरीके से समझा जाए और जाप की विधि भी श्रद्धा के साथ अपनाई

सूत्र अनुसार जे भविक क्रिया करे तेह नु शुद्ध चारित्र परिखोधा।।

बंधुओ ! प्रभु वीतराग देव के आध्यात्मिक, और निर्मल शासन में भव्य जीव अपनी पवित्रता को साधने के लिये विभिन्न क्षेत्रों में उपस्थित होकर अंतश्चेतना की भव्य जागति चाहते हैं, वे चाहे वाणी से कहें या न कहें। कथन सिर्फ वाणी से ही नहीं होता। अपने भावों की अभिव्यक्ति शरीर से एवं जीवन की उपस्थिति से ही हुआ करती है। वाणी तो बहुत कम ही कह पाती है। परन्तु उसके जीवन की उपस्थिति यह अभिव्यक्ति करती है कि उसकी अंतश्चेतना में एक जिज्ञासा, एक तीव्र अभिलाषा अंकुरित होना चाह रही है। वह इस चतुर्गति संसार के बीच में, विविध योनियों में परिभ्रमण करते हुए अपनी स्थिति को कुछ अर्थपूर्ण कर पाया। दुख और द्वन्द्वों की ज्वालाएं चारों ओर सुलग रही हैं। ऐसे में कोई शांति का, त्राण का रास्ता है तो वह वीतराग वचनों का ही है क्योंकि वे परिपूर्ण अंतरंग की शुद्धि के साथ सिर्फ जन-कल्याणार्थ ही अभिव्यक्ति हुए। यही कारण है कि उन आगमिक वचनों के प्रति भव्य जीव अत्यधिक आकर्षित हैं। वैसे वे चाहे उनका अर्थ समझ रहे हों या नहीं, परन्तु उनके प्रति जो उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा है, वही उनको इस वाणी की ओर प्रेरित कर रही है। ऐसे भव्य जीवों के लिये आगमवाणी का अगाध रहस्य स्वल्प समय में समझ में आ नहीं सकता, जीवन में उतर नहीं सकता। इसीलिए कवि आनन्दघनजी ने भी संकेत दिया कि तलवार की धार से भी प्रभु की सेवा अधिक कठिन है। आनन्दघनजी ने इस कविता में सुश्रद्धा का संकेत दिया कि श्रद्धा के बिना कितनी भी कठोर साधना की जाए, शरीर को सुखा दिया जाए, निचोड़ दिया जाए, गरमी से सुखा दिया जाए और शीत आतापना लेकर सिकोड़ दिया जाए, फिर भी शुद्ध श्रद्धा के अभाव में छार पर लीपने के समान है। अर्थात् इतनी कठोर क्रिया भी आत्मशुद्धि नहीं कर सकती है। मैं आगम में जैसे-जैसे अवगाहना करता हूँ, अंतर की उर्मियां विविध रूप से उठने लगती हैं। विवेचन कैसे करूँ ?

टेढ़ी खीर है। परन्तु संक्षेपतः संकेत देना चाह रहा हूँ कि आप नमस्कार मंत्र का उच्चारण श्रद्धा से श्रवण कर पा रहे हैं या इन पांच नमस्कार मंत्रों के लिये संकेत है कि ये— “एसो पंच णमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो” — ये पांच नमस्कार सब पापों का नाश करने वाले हैं और ये सब मंगलों में प्रथम मंगल रूप हैं।

मैं एक ही पद को लेकर संकेत देना चाह रहा हूँ कि जो पहिला मंत्र है “णमो अरिहंताणं” आप नमस्कार कर रहे हैं, अरिहंतों को। इधर भूराजी का प्रश्न है कि हम जपते हैं, नमस्कार मंत्र को, तो सब पापों का नाश कैसे हो सकता है ? उनके प्रश्न में सबसे पहिले यह संशोधन है कि वहां जपने की बात नहीं कही गई है। नमस्कार की बात कही गई है। नमस्कार से सब पापों का नाश होता है। नमस्कार का माध्यम क्या है ? इस आत्मा के पास में नमस्कार का जरिया शरीर है। शरीर को भी हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। मन की स्थिति से, वचन की स्थिति से और काया की स्थिति से। मेरे भाई नमस्कार करने की स्थिति से नमस्कार करते ही हैं। परन्तु कौनसा नमस्कार किस फल का दाता है ? किसको, कितना लाभ देने वाला है ? इसका विज्ञान संभवतः बहुत कम लोगों को होगा। आप इस प्रसंग से थोड़ा-बहुत उसका अनुभव लें और अपने-आप को देखें कि हम नमस्कार कैसे कर रहे हैं ? अधिकांश भाई केवल शब्दों से उच्चारण कर लेते हैं, उपयोगरहित होकर। उपयोग का तो कोई दूसरा तरीका है। पहिला पद अधिक शास्त्रसंगत “णमो अरिहंताणं” है। उसमें भी ‘नमो अरिहंताणं’ कर लेते हैं। कोई बात नहीं। ‘नमो अरिहंताणं’ कहें या ‘णमो अरिहंताणं’ परन्तु ‘णमो अरिहंताणं’ विशेष महत्त्वपूर्ण है। इतना-सा उच्चारण कर लेते हैं और मान लेते हैं कि हमने जप लिया मंत्र। हमको फल मिल ही जाना चाहिये। आज नहीं तो कल मिल जाएगा। दो-चार दिन नहीं मिला, तो हमारी श्रद्धा हवा हो जाती है। नमस्कार मंत्र सब पापों का नाश करने वाला है। और हमने रोजाना ‘णमो अरिहंताणं’ कहा परन्तु हमारे पाप तो नष्ट हुए ही नहीं। भद्रिक भव्य जन, इस बात को

जाए। इसके महत्त्व को समझा जाए। हम प्रतिदिन उच्चारण तो करते ही हैं। एतावत, यह सामान्य हो गया है। इसमें कोई विशेषता नहीं रही है। मनोविज्ञान से मालूम होता है कि जिसका प्रतिदिन संपर्क होता है, उस वस्तु के प्रति आकर्षण कुछ कम हो जाता है और यदा-कदा जो चीज़ सामने आती है, उसके प्रति आकर्षण और लालसा अधिक बढ़ जाती है। परन्तु सुज्ञ चिंतकों को गंभीरता से चिंतन करना है। कई वस्तुएं ऐसी होती हैं कि जो प्रतिदिन और प्रतिसमय सामने आने पर भी उनके प्रति आकर्षण ज्यादा बढ़ता जाता है। सूर्य प्रतिदिन मनुष्य के सामने आ रहा है, परन्तु प्रतिदिन, प्रति समय नयी-नयी उमंगों को जागत करता है। वैसे ही नमस्कार मंत्र के विषय में भी जानना चाहिए। मेरे भाई और बहिन, केवल पंचायती नोहरे में एकत्रित होने वाले ही नहीं, जैन ही नहीं अजैन भी, मानव मात्र ही नहीं परन्तु प्राणीमात्र, चाहे वे इन कानों से सुन सकें या नहीं ? हृदय से समझ सकें या नहीं, श्रद्धा कर सकें या नहीं कर सकें। परन्तु यह अवश्य है कि समग्र प्राणियों का यदि कोई शांति का केन्द्र बनेगा, जब भी बनेगा तब यही महामंत्र नवकार ही बनेगा। क्योंकि मैं संकेत दे गया कि इसमें समग्र वस्तुओं का सार रहा हुआ है। जिन सच्चे जिज्ञासुओं ने, सच्ची भावना से, इसकी उपासना की, वे इसके महत्त्व को, अपनी बुद्धि से समझ पाए हैं। और कई समझने का प्रयास कर रहे हैं। वस्तुतः आगमों का समग्र सार लेकर, जीवन का निर्माण करना चाहें और समग्र पापकर्मों का नाश करके, मुक्ति पाना चाहें, तो इसका यही एक बीजमंत्र है। बीजमंत्र तो क्या कहूँ ! प्रचलित बीजमंत्र आपके लिए ‘ॐ’ आदि अक्षरों में है। परन्तु मैं नवकार मंत्र को आगम का सार मानकर इसे बीजमंत्र कहता हूँ। इसकी महिमा का वर्णन करते हुए ज्ञानियों ने कहा कि, यह सब पापों का नाश करने वाला है। यह सहसा हर किसी की समझ की चीज नहीं है। श्रद्धा के साथ भले ही उच्चारण कर लेंगे, विश्वास कर लेंगे, परन्तु अंतर् की अनुभूति के साथ दढ़ श्रद्धा लाना कि वस्तुतः यह सब पापों का नाश करने वाला है। यह कुछ अटपटी-सी बात है,

की आवश्यकता है। जब तक वह विज्ञान से नहीं जुड़ेगा तब तक पांच अंग नमाने से कुछ बड़ी संधियां (संधि यानी जोड़ का स्थान) झुक जायेगी। बड़ी संधियाँ दाएं पैर की, बाएं पैर की तीन-तीन और दोनों हाथों की तीन-तीन, बारह हो गईं। गर्दन और पीठ, ये पांच अंगों का नमस्कार-स्थूल रूप से दिखने वाली बड़ी संधियाँ झुकीं। उसके साथ, आपका उपयोग उस नमस्कार मंत्र के पद के साथ रहा। परन्तु अर्थ के साथ नहीं रहा। जब तक शब्दों से उपयोग हटाकर, उससे निकलने वाले अर्थ के साथ नमन करने की विधि में, इन बड़ी संधियों का तदाकार नमन नहीं होता, तब तक पूरी पद्धति नहीं सधती है। इसलिए पांचवीं प्रकार का नमस्कार, इन्हीं संधियों के साथ चला। अर्थ के साथ एकाकार होकर, शरीर की यदि बड़ी संधियाँ, जिस समय अर्थ के साथ झुकी, नमस्कार के लिये, उस समय मनुष्य के मस्तिष्क में, किंचित् नेत्र भी झुके बिना न रहे। तो इसकी अपेक्षा, यह पांचवां नमस्कार और कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण होता है। परन्तु यही सीमा निर्धारण नहीं है। यही समाप्ति नहीं है। आपको यदि सब पापों को नाश करना है, और एक ही नमस्कार मंत्र की विधि के साथ जुटना है, तो आप देख पायेंगे, अनुभव कर पायेंगे और जिस विधि का मैं संकेत कर रहा हूँ, उस विधि के साथ, यदि क्रमिक रूप से साधना की जाए, तो पांचों की आवश्यकता नहीं। एक ही विधि के अंदर, आपके सब पापों का नाश हो सकता है। मैं ऐसे बाबा वाक्य प्रमाणम् की तरह कहना नहीं चाह रहा हूँ। मैं जिस बात को कह रहा हूँ, वह बात आप, इस विधि के साथ जीवन में ढालने की चेष्टा करें तो आप स्वयं अनुभव करेंगे कि यह आध्यात्मिक तरीका एक वैज्ञानिक तरीका है। आज जितने मनोविज्ञान के प्रावधान हैं, सबको समेटता हुआ, खुली पद्धति से, कैसी गहनता की स्थिति में जा रहा है ? छठा नमस्कार यदि आपको करना होगा, तो और गहराई में जाना होगा। उन्हीं संधियों के साथ, उन स्थूल चौदह संधियों तक ही (भौतिक शरीर) सीमित नहीं रहना है। परन्तु फिजीकल बॉडी की जो सात संधियां हैं, उनका यदि थोड़ा विश्लेषण

सोच नहीं पाते हैं कि हमने नमस्कार की विधि पूरी साधी कहाँ ? आपने तो केवल वचनों से, शब्दों से और वह भी बिना उपयोग के नमस्कार मंत्र का उच्चारण किया है। उपयोग तो हमारा कहीं तिजोरी में या व्यापार में जा रहा था। तो इससे प्रारम्भिक प्रक्रिया भी नहीं बनी। अधिक कुछ होगा तो दूसरे नंबर में वे इतने हाथ जोड़ लेते हैं। थोड़ी-सी गर्दन झुका लेते हैं और णमो अरिहंताणं कहकर तुष्टि मान लेते हैं कि हमारा हो गया नमस्कार। परन्तु उपयोग इस प्रकार से गर्दन झुकाने मात्र से नहीं होगा। तीसरे नंबर में यदि ज्यादा से ज्यादा बने, तो शरीर के अवयवों को मोड़ने की चेष्टा करेंगे। फिर उठ-बैठ पायें या नहीं, परन्तु एक वक्त तो कर ही लेंगे। खड़े होकर हमने पांचों अंग नमाए और णमो अरिहंताणं बोलकर समझ लिया कि हमने नमस्कार कर लिया। परन्तु यह नहीं देख पाए कि इन पांचों अंगों के नमने के साथ ही साथ हमारा उच्चारण और उपयोग, उसके साथ था या नहीं। परन्तु इस तरह के वंदन को वे वंदन मान लेते हैं। उसके पीछे ही वे सब-कुछ सोचने की चेष्टा करते हैं। जहां तक उनके चिन्तन की बात है, ये तीन प्रकार के नमस्कार हैं। नमस्कार की स्थिति तथा विधिवत् साधना का सूत्र नहीं बना। परन्तु इससे आगे और बढ़ना है। चौथा प्रकार नमस्कार की स्थिति है। उपयोग की स्थिति। उपयोग की स्थिति तो होनी चाहिये। जो थोड़े सावधान हैं, जो साधना के लिए उत्सुक हो रहे हैं, वे आगे बढ़ें। पांचों अंग नमाकर श्वास सीधे स्थान पर खींच लेते हैं और मन 'णमो अरिहंताणं' में लगाने के लिए चेष्टा करते हैं। तो समझ लेते हैं कि मैंने नमस्कार कर लिया। कृतकृत्य हो गया। परन्तु इसमें भी कमी है। आपका उपयोग पांच अंगों को नमाने के साथ हुआ। अब मैं आचारांग की इस सूक्ति के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ता हूँ। "संधिं विदित्ता इह मच्चिएहिं।" संधि के विषय में कुछ कहा गया है। पहिले मैंने थोड़ी बात कही। मैं उसका सम्बन्ध संधि के साथ जोड़ता हूँ। नमस्कार और संधि में घनिष्ठ संबंध है। मैं सोचता हूँ, कि इस नमस्कार की विधि के साथ विज्ञान को जोड़ने

जीवन में समाहित नहीं कर पायेंगे। आप कभी सोचते हैं कि इतने प्रकार के नमस्कार हैं, तो क्या पहिले प्रकार के नमस्कार मंत्र से फायदा नहीं होगा ? परन्तु तटस्थ दृष्टि से कह रहा हूँ कि पहिले प्रकार का नमस्कार भी फलरहित नहीं है। वह भी फल देता है। परन्तु उसका फल स्वल्प है। आपके वचन से जो अशुभ योग की प्रवृत्ति होने वाली थी, वह रुक गई। और “णमो अरिहंताणं” के भाव उपयोग का भी उच्चारण हुआ। तो जहां शुभ योग की प्रवृत्ति हुई, तो उससे संवर-निर्जरा और उतनी मात्रा से पुण्यबंध भी हुआ। वंचित नहीं रहे। दूसरे प्रकार के नमस्कार में जितनी आपकी श्रद्धा बढ़ी तो, उतनी मात्रा से तीन तत्त्व संवर, निर्जरा और पुण्य की अभिवृद्धि हुई। तीसरे प्रकार का नमस्कार, जिसमें बिना उपयोग भी स्थूल शरीर की चौदह संधियों का झुकना हुआ, उसमें भी उतनी मात्रा के अंदर, उन्हीं तीन तत्त्वों की वृद्धि हुई। वह भी सर्वथा निष्फल नहीं गया। क्योंकि वह वंदन भी श्रद्धा के बारीक छोर से आ रहा है। भले ही उपयोग नहीं है। बारीकी से जब चौथे प्रकार का नमस्कार है, वहां उन्हीं गुणों की वृद्धि होती चली जाएगी। गणित फल से लेता जाएगा। पांचवें में इससे अधिक और छठे में और अधिक गुणों की वृद्धि होगी। और सातवें-आठवें में इतने अधिक गुणों की वृद्धि बढ़ जाएगी कि जिसमें पुण्य फल की सत्ता स्वल्प और आत्मशुद्धि अपनी

करेंगे, थोड़ा गहराई में जायेंगे, तो कम से कम अठारह सौ संधि स्थानों के साथ, आपको वह नमन अर्थ से ऊपर उठकर भावार्थ की तरफ जाएगा। उसका तात्पर्य, अधिकांश यही समझते हैं कि विवेचना कर दी, सूत्र के शब्दों का अर्थ कर दिया तो भावार्थ हो गया। अधिकांश इसको ही समझते हैं। परन्तु मेरा भावार्थ, इस तरीके का नहीं है। मैं यह बताना चाह रहा हूँ कि शब्द और उसके साथ जो अर्थ सहसा फलित होता है, वह है। उस अर्थ में भी कुछ शब्दों का प्रावधान है। शब्दों का निमित्त है। परन्तु उस शब्द के निमित्त से फिर जो भाव के अर्थ का अनुसंधान करना, उसका अर्थ है। वह अठारह सौ प्रकार की संधियों के साथ, तन्मयतापूर्वक, जब आपके नमस्कार की स्थिति जुड़ेगी, उस वक्त में, आप कुछ दूसरे ही आनन्द का अनुभव करेंगे। आप सोचेंगे कि हम किस दुनिया में चले गए। परन्तु वहीं अटक नहीं जाना है। जब आप स्थूल शरीर की संधियों से आगे बढ़ेंगे, तो वर्तमान जीवन के साथ कई प्रतर लगे हुए हैं। कई संस्थान और कई अवस्थान हैं। उस स्थूल संस्थान, स्थूल शरीर की संधियों से फिजीकल बॉडी की संधियों के आगे, जहां इस छठे नमस्कार में बढ़ेंगे तो कुछ आगे की स्थिति के साथ संबंध जुड़ेगा। और सातवां नमस्कार वहां फिर छत्तीस सौ संधियों के साथ, उस भावात्मक स्थिति से बढ़ेंगे। और जब आपका अभ्यास बढ़ेगा तो आगे आप दुगुना कर दीजिए। बहत्तर सौ संधियों के साथ, आपका आठवां नमस्कार होगा। वहां पर जब समता की अखंड भूमिका बनेगी और उसके बाद जब, नौवां नमस्कार आएगा, वहां संख्यातीत अवस्था से फिर आयेंगे, उसमें अपेक्षित दृष्टि से अविभाज्य असंख्य संधियों का प्रावधान अवश्य रहेगा। परन्तु उस नौवें प्रकार के नमस्कार से, जब यह आत्मा पहुँच जाएगी, तो आप देखेंगे कि पाप लेश मात्र भी नहीं रहेंगे – “सर्व पावप्पणासणो” पाप सारे के सारे नष्ट हो गए। यह नौ प्रकार के नमस्कार का विधि-विधान है। जब तक भव्य जीव प्रगाढ़ श्रद्धा के साथ इसे हृदयंगम नहीं करेंगे, तब तक नमस्कार मंत्र के उस वाक्य का कि “सर्व पावप्पणासणो” को ठीक तरीके से

पराकाष्ठा को छू लेगी। फिर आखिरी नमस्कार तो पापरहित होगा। ऐसी नमस्कार की स्थिति को जब तक मनुष्य हृदयंगम नहीं करता, तब तक वह भले ही शब्दों से उच्चारण करता रहे, परन्तु उसके फल की तारतम्यता को नहीं समझ पाएगा। कभी-कभी मेरे भाई समग्र वस्तु के स्वरूप को नहीं जानने के कारण द्रव्य वंदन को तिरस्कृत कर देता है। वह कहता है द्रव्य वंदन से क्या होता है ? तुम्हारा मन उधर जा रहा है। तो साहस करके ऐसा कह देते हो। परन्तु मैं ऐसा साहस नहीं करूँगा क्योंकि वीतरागदेव की वाणी नैगमनय आदि सातों नयों को छूती है। अनेक नयों का प्रसंग जुड़ता है। इसलिए संकेत मूल धारा पर चला जाता है कि “धार तलवार नी सोहेली दोहेली चउदमा जिन तणी चरण सेवा”। यह तलवार की धार से भी कठिन है चरण सेवा। परन्तु यह चरण सेवा, पाओगे कैसे ? इन पदों की किस प्रकार साधना हो ? कैसे विधि साधें ? किस प्रकार की प्रगाढ़ता हो ? और कैसा व्यवहार और आचरण हो ? इन सबका संबंध इनके साथ जुड़ा हुआ है। मैं ऐसा कह गया। संक्षेप में ही बोल रहा हूँ जैसे नवकार मंत्र संक्षिप्त है। उन्हीं में से पांच प्राचीन नमस्कार ‘णमो अरिहंताणं’ वह संक्षिप्त है और विधि भी संक्षिप्त आ रही है। मेरे भाई-बहिन कभी प्रश्न करते हैं कि म. सा. ! नवपदजी का जाप कर रहे हैं, उसमें क्या है ? उनको स्थूल दष्टि से मैंने बताया। उनकी धारणा में आज के दिन की स्थिति से जो नवपद आए हुए हैं, उनमें पांच पद नवकार के तो हैं ही, ‘णमो नाणस्स, णमो दंसणस्स, णमो चारितस्स, णमो तवस्स।’ ये चार और जुड़ जाते हैं और वे इसके आधार पर ही नवपदजी का जाप करते हैं तो फल तो होता ही है। कमी नहीं रहती है। परन्तु जो अभीष्ट फल होना चाहिये, वह नहीं होता। पदों का अवस्थान है, पदों की

अर्थ-अवस्था है और साधना की स्थिति के साथ नवपद की स्थिति ये जो चार पद हैं, ये पांच में समाविष्ट हैं। हम नौ की गिनती पूरी करते हैं। सिद्ध पद में चारों हैं या नहीं ? णमो नाणस्स, दंसणस्स, चारितस्स, तवस्स हैं। तो ये आचार्य में, उपाध्याय में हैं और साधुओं में हैं। और अरिहंत की तो पूर्ण स्थिति है। ये चार पद तो उनमें ही समाविष्ट हैं। तो नवपद की स्थिति कैसी ? परन्तु मैं किसी की श्रद्धा को उथल-पुथल करना नहीं चाहता हूँ। मैं तो संकेत देना चाहता हूँ। आप अपनी स्थिति से जो कुछ भी करते आए, करते रहें। परन्तु व्यवधान नहीं डाला जाए। जिस विधि से मैंने नमस्कार बताया, उन श्रेणियों के साथ संधियों का ज्ञान प्राप्त कर नमस्कार करना चाहिए। केवल ‘णमो अरिहंताणं’ का ही नमस्कार करेंगे, तो वह सब पापों से रहित हो जाता है। परन्तु मैं कुछ सूक्ष्मता से बता गया। प्रश्न मस्तिष्क में घूम गया, स्पष्टीकरण करना ही चाहिये। मैंने सोचा कि यह प्रश्न दीपचंदजी का था परन्तु वे तो निमित्त हैं। यह प्रश्न तो सब के मस्तिष्क में घूमता होगा। इसलिए स्पष्टीकरण कर दूँ। यह तत्त्वों का निचोड़ है जहां व्यक्ति ऊपर ही ऊपर से खोजना चाहता है तो कुछ नहीं मिलता है। भले ही निरर्थक नहीं जाएगा परन्तु वास्तविक तथ्य हाथ नहीं आएगा। तो कुछ चिंतन करें। मैंने आपके समक्ष नमस्कार महामंत्र के विषय में बोलते हुए जो विधि-विधान बताये, आप उनको ध्यान में रखते हुए पूर्ण श्रद्धा और दढ़ आस्था के साथ हृदय से जाप करेंगे, तो आपका जीवन मंगलमय बनेगा।

इत्यलम्

अहिंसा का स्वरूप

प्रार्थना

धार तरवार नी सोहेली, दोहेली, चौदमा जिण तणी चरण सेवा।
धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवानां धार पर रहे न देवा।।

बंधुओ ! वीतराग देव की अमूल्य वाणी, आध्यात्मिक जीवन के लिये बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अपने अंतर के निर्झर से जन-कल्याणार्थ इस वाणी की वर्षा की। और गणधरों ने भावी पीढ़ी के लिए उसका संकलन किया। सुधर्मा स्वामी आदि आचार्यों ने लंबी दूरी तक इसको सुरक्षित रखा। उसी वाणी का आस्वादन आज के भव्य जीव कर रहे हैं। शास्त्र के पन्नों में जिन शब्दों का उल्लेख है, वे शब्द तो निमित्त हैं परन्तु उन शब्दों के निमित्त से निकलने वाला अर्थ विशाल एवं व्यापक है। जन-कल्याण अथवा विश्व-कल्याण तभी संभव होगा जब वीतराग देव के द्वारा बताई हुई उस पवित्र वाणी का स्वरूप, जनमानस में उतरेगा। समग्र रूप से वह नहीं भी उतार सके किन्तु उसके एक हिस्से को भी यदि जीवन में उतार लिया तो उसका जीवन आह्लादित और आनन्दित हो जायगा। यदि वर्तमान जीवन आह्लादित और आनन्दित होगा, तो भविष्य में भी शोक और संतप्तता की स्थिति संभावित नहीं रहेगी। ऐसी वह वाणी है अहिंसा ! अहिंसा की दृष्टि से भाई और बहिन आकर्षित अवश्य होते हैं। परन्तु अहिंसा का स्वरूप जिस विधि से, जिस पद्धति से समझना चाहिये, उस विधि से समझने का प्रयास बहुत कम होता है। बड़े रूप में वे सोच लेते हैं कि किसी प्राणी का अंगछेदन कर दिया, उपमर्दन हो गया अथवा उसको शस्त्र से खत्म कर दिया तो यह द्रव्य हिंसा हो गई और यह हिंसा बहुत बड़ी हिंसा हो गई। हिंसा के स्वरूप से अहिंसा का स्वरूप विपरीत है। अहिंसा की एक दृष्टि से कोई व्याख्या नहीं कर सकता। अहिंसा की कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती है। परिपूर्ण अहिंसा संपूर्ण आकाश-गगन से भी अधिक व्यापक और विशाल है। अतएव अहिंसा की परिभाषा ऐसे तो शक्य नहीं फिर भी ज्ञानीजनों ने अपने शब्दों में इसका कुछ उल्लेख किया है। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है कि "अहिंसा संजमो तवो।" अहिंसा, संयम और तप धर्म है। इसमें अहिंसा की बात कही। शास्त्रों

में विभिन्न स्थलों पर अहिंसा की विभिन्न परिभाषाएं दी गई हैं। उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में अहिंसा की हो परिभाषा दी है, वह बीज रूप में स्वीकृत है। तत्त्वार्थ सूत्र ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिस पर सारा जैन समाज एकमत है। उसमें अहिंसा की परिभाषा करते हुए उमास्वाति ने कहा है कि—"प्रमत्त योगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा।" अर्थात् प्रमत्तयोग से होने वाला प्राणबध हिंसा है। उन्होंने हिंसा के रूप में अहिंसा की परिभाषा की और यह संकेत दिया कि इसके विपरीत जितनी भी है, वह सारी अहिंसा है। इसलिए आम जनता के समक्ष, अहिंसा को समझने के लिये हिंसा का स्वरूप आ जाता है। इसके विपरीत, जो भी स्थितियाँ हैं वे सारी अहिंसा की में स्पष्ट हो जाती हैं। इस परिभाषा के अनुसार हिंसा को बिरले ही व्यक्ति समझ पाते हैं। अधिकांश व्यक्ति बाहर के दृश्य ही देखते हैं। बाहर की हिंसा हो गई, तो पाप हो गया, घोरतम पाप हो गया। परन्तु यही भाषा, यही भाव, यदि आंतरिक हिंसा की स्थिति को समझाते हुए व्यक्त किये जायें, तो वह कुछ अंश में सही हो सकता है। साधारण व्यक्ति बड़े रूप में अपनी आंखों से जो हिंसा देखता है, वही हिंसा मान लेता है। वैसे बहुत बड़े प्रकट रूप में हिंसा कसाई की है। कल्लखाना चला रहा है। ऊपर से भी तलवार-छुरी चला रहा है और भीतर में भी उसके क्रूर भाव हैं। उसको प्रकट में भी हिंसक और पापी कह सकते हैं, और आभ्यंतर दृष्टि से भी वह हिंसक है। कभी-कभी ऐसे भी प्रसंग आते हैं कि जहां ऊपर से एक चींटी की टांग भी नहीं तोड़ते, परन्तु भीतर में उस कसाई से भी बढ़कर हिंसा का तांडव नृत्य उपस्थित कर देते हैं। परिणामस्वरूप उसका भयंकर दंड वह स्वयं भोगता है। परलोक में जितनी यातनाएं उसको मिलेंगी, उतनी यातनाएँ शायद संभव हैं, उस कसाई को भी नहीं मिलें ! यह ज्ञानियों का विषय है परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि जितनी प्रबल हिंसा अधिक मात्रा से होगी उसका उतना ही अधिक निकाचित बंधन और फलभोग भी उतना ही भयंकर होगा। शास्त्रकार

ने इस विषय को स्पष्ट करने के लिये तंदुल-मच्छ का रूपक दिया है। वह चावल के बराबर शरीर वाला मच्छ, एक बड़ी विशाल काया वाले मच्छ की भाँपणी पर बैठने वाला-छोटे शरीर वाला, क्या कुछ हिंसा कर सकता है ? परन्तु वह तंदुल मच्छ उस बड़े मच्छ की भाँपणी पर बैठा हुआ कल्पना करता है कि यह भीमकाय मच्छ कितना अज्ञानी और मूर्ख है ! यह श्वांस लेता है और मुंह फाड़ता है, तो हजारों छोटे-मोटे प्राणी इसके पेट में जाते हैं और श्वांस छोड़ते ही बाहर निकल जाते हैं। परन्तु ओहो ! यह अविवेकी इन्हें खा नहीं रहा है। यदि इसके स्थान पर मैं होता, तो श्वांस लेते समय सब जंतु मेरे पेट में आ जाते और मैं उसी समय मुंह बंद कर लेता और उन्हें खा जाता और एक प्राणी को भी बाहर नहीं निकलने देता। आप भी भावना करते हैं। परन्तु मन अपनी परिधि में सीमित नहीं रहता है। उसमें इतनी तीव्रता आ जाती है कि वाणी हो तो मनुष्य की तरह प्रकट रूप में कह सके। इस प्रकार मन, वचन और काया में तीव्रता से परिणति करने की भावना जब मन में आ जाती है, तो परिपूर्ण कर्मबंध होता है। अब तंदुल-मच्छ के परिपूर्ण कर्म-बंध है। बाहर में तो हिंसा नहीं दिखती है। साधारण लोग तो यही कहेंगे कि यह तो बेचारा ऐसे ही बैठा हुआ है। परन्तु ज्ञानियों की दृष्टि में उससे घोरतम पाप हो गया है। व्यक्ति छुरा लेकर भी हिंसा कर सके या नहीं कर सके साधारण मन की भावना से या वाणी से प्रकट नहीं होता। ऐसी वाणी से परिपूर्ण कर्मबंध नहीं होता। परिपूर्ण हिंसा का फल भी नहीं मिलता। किये हुए अशुभ विचार मन के द्वारा भी समाप्त किये जा सकते हैं। परन्तु यदि मन के भाव तीव्रतर होते जाते हैं, और मन के विचार काया में परिणत हो जावें तब पूर्व कर्मबंध हो जाता है। एक अपंग व्यक्ति, लंगड़ा-लूला बैठा हुआ है, वह बोलता भी नहीं है परन्तु यदि इतनी तीव्रता उसके मन में आती है कि इसको समाप्त कर दूं। तो उसका फल देगा। यदि तीव्रता की भावना नहीं है और परतंत्रता से भावों की स्थिति चल रही है, तो

हिंसा के दलिक तो इकट्ठे हो सकते हैं, परन्तु उतना वहां निकाचित कर्मबंध नहीं होता जितना कि तीव्रता के साथ निकाचित कर्म का बंध होता है। राजर्षि प्रसन्नचंद्र ध्यान मुद्रा में खड़े थे। उनकी ध्यान मुद्रा को देखकर आम जनता घोर आश्चर्य कर रही है कि यह कितना महान् तपस्वी है। आतापना ले रहे हैं; पसीना गिर रहा है, अडोल आसन से खड़े हैं, अडोल मुद्रा है परन्तु भ. महावीर की वाणी के अनुसार, श्रेणिक के प्रश्नोत्तर से यह ज्ञात हुआ कि इस समय वे मानसिक हिंसा में उतरे हुए हैं और मानसिक दृष्टि से हाथ में शस्त्र ले रखा है। प्रतिपक्षियों को मार रहे हैं— उड़ा रहे हैं। उस समय भी उनके निकाचित कर्मबंध नहीं हुआ। परन्तु जैसे ही मन के दलिक बदले और पुण्य में बदल गए, तो सर्वार्थसिद्ध विमान तक दलिक तैयार कर लिये। यह हिंसा शरीर और वाणी तक नहीं हुई परन्तु मन तक ही थी। मन में ही परिवर्तन हुआ। दूसरी तरफ एक डॉक्टर एक व्यक्ति का पेट चीर रहा है। ऊपर से तो मुनष्य की चीर-फाड़ कर रहा है। परन्तु भीतर में उसकी भावना उस मानव की रक्षा करने की है। अतएव वह मानव की हिंसा का भागी नहीं होगा। वहां आरंभी हिंसा है, परन्तु मानव की हिंसा का भागी नहीं बनता। दूसरी तरफ देखा जाए कि वही डॉक्टर यदि स्वार्थ के वशीभूत होकर मरीज को मनमाने तरीके से खत्म करने की चेष्टा करता है, तो वह ऊपर से भले ही सेवा होगी, परन्तु भीतर से वह पाप का भागी बन सकता है।

यह श्रवण करने को मिला कि सुदूर प्रदेश से एक रोगी लंबे इलाज से थककर, एक ख्यातिप्राप्त डॉक्टर के पास पहुंचा। डॉक्टर सा. से निवेदन किया कि मैं आपकी प्रशंसा सुनकर यहां आया हूँ। मेरा इलाज कहीं नहीं हो सका। यदि आप मेरा इलाज करेंगे, तो मैं उसके बदले में बहुत-कुछ संपत्ति दे दूंगा। डॉक्टर ने उसका रंग-ढंग देखा और आकृति से पहिचान गया। उसने कहा, देखो भाई ! तुम्हारे इतनी पुरानी बीमारी है, यहां हॉस्पिटल में उपचार नहीं होगा। मेरे बंगले पर ही भर्ती हो जाओ। मैं वहां चौबीस घंटे तुम्हारी

देख-रेख कर सकूंगा। वहीं इलाज हो सकेगा। उसकी लालसा यह थी कि यहां हॉस्पिटल में मनमाने ढंग से पैसे नहीं ले सकूंगा। रोगी ने भी मंजूर कर लिया और वह घर पर भर्ती हो गया। डॉक्टर ने कहा, देखो ! अब तुम्हारा इलाज अच्छी तरह हो जाएगा। उस रोगी के पास, पचास हजार रुपए थे। उसने डॉक्टर सा. को निकाल कर दिये और कहा कि ये आप अपने पास रख लीजिए। मैं अच्छा हो जाऊंगा, तो इनमें से दस हजार रुपये आप को दे दूंगा और चालीस हजार मैं ले जाऊंगा। तो डॉक्टर ने कहा-नहीं ! नहीं ! मैं इन रुपयों के हाथ नहीं लगाऊंगा। तुम्हीं तुम्हारे हाथ से तिजोरी में रख दो। डॉक्टर ने सोचा कि यह अच्छा हो गया तो दस हजार भी मिलेंगे और इसी बीच खत्म हो गया, तो कौन देखने वाला है। वे रुपए रोगी ने अपने हाथ से तिजोरी में रख दिये। अब डॉक्टर ने सोचा कि इसे खत्म ही क्यों न कर दिया जाए। इसी मलीन भावना से उसने पॉयजन का इंजेक्शन भरा और सोचा कि एक ही इंजेक्शन से खत्म हो जाएगा। उसने रोगी से कहा- मैं आपकी बीमारी समाप्त कर देता हूँ। रोगी ने वह इंजेक्शन लगवा लिया। परन्तु उस जहरीले इंजेक्शन के लगाने से परिणाम विपरीत ही हुआ। उसके शरीर में जिन जहरीले तत्त्वों का प्रवेश था, वे तत्त्व जहर से ही दबने वाले थे। डॉक्टर ने तो उसे मारने की दृष्टि से इंजेक्शन लगाया। परन्तु हुआ यह कि वह उस इन्जेक्शन से अच्छा हो गया। गिड़गिड़ाकर डॉक्टर के चरणों में पड़ा और कहने लगा। डॉक्टर सा. ! आपने मुझको अच्छा कर दिया, मुझे आपने मृत्यु के मुंह से बचा लिया। यह रोगी डॉक्टर सा. की हृदय से तारीफ करने लगा। चारों तरफ तारीफ फैलने लगी। अब मैं पूछूँ कि आम-जनता की दृष्टि में वह डॉक्टर क्या है ? ज्ञानियों की दृष्टि में क्या है ? ज्ञानियों की दृष्टि में हिंसा है। भीतरी भावना में उसके इतनी तीव्रता थी कि उस मानव की घात का उसको पाप लग गया। और ऐसे अर्थ की स्थिति के पीछे जो आत्मक्रूरता करके मानव को, प्राणियों को खत्म करता है।

रात-दिन यही भावना रहती है, तो उतना ही पाप लगता है। परन्तु कभी-कभी ऐसे प्रसंग भी आते हैं कि ऊपरी तौर पर बहुतेरी हिंसा दिखती है, चाहे छोटे या बड़े प्राणियों की हो, परन्तु जहां हिंसा की भावना नहीं है, और वह लाचारीवश कर रहा है, तो वहां उदासीनता की दृष्टि होने से उस हिंसा का उसे निकाचित बंधन होने का प्रसंग नहीं आता। हिंसा का प्रसंग ऊपर से शस्त्र चलाना है, परन्तु उसमें जितनी क्रूरता होगी, उस पर ही अवलंबित है। तीर्थंकर महावीर ने या अन्यों ने बारीकी से हिंसा की परिभाषा की- “प्रमत्त योगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा”। वे बहुत सूक्ष्मता में गए। और हिंसा का स्वरूप प्रकट करने के लिये उन्होंने विवेचना दी। हम उस पर चिंतन-मनन करें। वह रूप किस-किस रूप में प्रमत्त योग में चलता है ? ऊपर से हिंसा का रूप नहीं दिखता है। कोई भी यह नहीं समझता है कि यह हिंसा कर रहा है। परन्तु भावों की दृष्टि से और अर्थ की स्थिति से व्यक्ति कितने प्रकार की हिंसा कर बैठता है। आज आप देखते हैं कि जो कुछ भी प्रसंग आ रहे हैं, दुनिया में किस-किस प्रकार से हिंसाएं की जा रही हैं। मैं जहां तक श्रवण करता हूँ कि असभ्य हिंसा ऊपर से मारने-पीटने की होती है। परन्तु आमतौर पर वह हिंसा नहीं होती। जहां ऐसे स्थलों पर ऊपर से कोई व्यक्ति अच्छी बात कहते हुए, जानते-अनजानते हिंसा का भागी बन जाता है। हिंसा जहां बढ़ी, तो उसका विरोध भ. महावीर ने किया ही। परन्तु म. बुद्ध ने भी इस बड़ी हिंसा का विरोध किया। सूक्ष्म हिंसा का विवेचन भ. महावीर ने जितना किया उतना महात्मा बुद्ध ने नहीं किया। बात स्पष्ट है। मैं म. बुद्ध का विश्लेषण अभी नहीं कर रहा हूँ। परन्तु उनके ग्रन्थों से ही स्पष्ट हो जाता है। संस्कृत के चार अध्याय, जिनमें म. बुद्ध की वाणी का उल्लेख किया कि जो, मुझे सर्वज्ञ कहता है, वह झूठ बोलता है। यह उनके ही वचनों से स्पष्ट है। परन्तु नैतिकता की दृष्टि से जो बड़ी हिंसाएं हो रही थीं, उनका भी विरोध किया। आज इस प्रकार की स्थिति मंद पड़ गई है। परन्तु

दूसरी दृष्टि से चिन्तन किया जाए, तो उस बड़ी हिंसा को रोकने के लिये समय-समय पर महात्मा, संत पुरुषों ने जनता के सामने अपने विचार रखे और विवेचन भी किया। अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में, राष्ट्रीय क्षेत्र में संत अपनी स्थिति स्पष्ट करते रहे हैं। म. गांधी ने इस हिंसा के स्वरूप का विशेष प्रतिपादन किया और उसे समझा। उन्होंने अहिंसा की बातें दुनिया के सामने रखीं। आज दुनिया म. गांधी की जन्मतिथि मनाएगी और अहिंसा की बात दोहराएगी। उन्होंने बड़ी हिंसा का निषेध किया। उन्होंने भारत को स्वतन्त्रता दिलाने का भी प्रयत्न इसी अहिंसा के धरातल पर किया। परन्तु आगे चलकर जो बातें बताईं उन बातों पर आम जनता को जितना सोचना चाहिए था उतना नहीं सोचा। उन्होंने हिंसा के विषय में तो नहीं कहा, परन्तु विदेश जाते समय जिन चीजों का त्याग करके गए उनमें मदिरा, मांस और परस्त्रीगमन हैं। उन्होंने यह सोचा कि इस त्याग से अहिंसा के प्रति आस्थावान बन सकूँ। उन्होंने माता के कहने से मदिरा, मांस, अंडे नहीं खाने के प्रत्याख्यान ले लिये।

जब हम भ. महावीर के अहिंसा सिद्धान्त का बारीकी से चिन्तन करते हैं, तो मदिरा में भी हिंसा का स्वरूप पाते हैं। जहां मदिरा बनती है, उसमें तो हिंसा है ही। पहिले मदिरा बनती थी वहां उसमें कितने बड़े-बड़े जंतु, और कीड़े पैदा हो जाते थे। फिर भट्टी में पकाकर उसमें से मदिरा निकाली जाती थी। उसमें हिंसा चाहे छोटी दिखती हो, परन्तु जब मदिरा तैयार की जाती है तो उसे पीने के बाद क्या स्थिति बनती है ? जहां आम जनता कुसंगति की दृष्टि से सेवन करती है, तो वह भूल जाती है कि मैं हिंसा का शस्त्र भीतर में डाल रही हूँ। इससे मानव की हिंसा होगी। परन्तु सूक्ष्म रूप से वह अपनी ही हिंसा करने को तैयार हो जाती है। मदिरा से अपने अवयवों को शिथिल कर देती है। और सोचती है कि मस्तिष्क में तनाव है तो मदिरा लेने से कम हो जाएगा। मदिरा इसी भावना से लेता है। परन्तु मदिरा क्या करती है ? मस्तिष्क में जिस बात से

टेन्शन है और उससे सिकुड़न होने से नाड़ियों तंग हो जाती हैं। और वहां तनाव को नहीं रोकने के कारण से या अहिंसक तरीके का विचार नहीं होने से या मनोविज्ञान का ज्ञान विशेष रूप से नहीं होने के कारण शमन नहीं कर पाता है। और दूसरी स्थिति नहीं देखता है तो मदिरा ग्रहण कर लेता है। वह उसकी ज्ञानवाहिनी नाड़ियों में शून्यता पैदा कर देती है। वे नसों, बारीक कोशिकाएं शून्य बनती हुई नष्ट हो जाती हैं। जीवन वाहिनी कोशिकाएं धीरे-धीरे शून्य होती हुई नष्ट हो जाती हैं और शरीर की अन्य कोशिकाओं पर भी धीरे-धीरे असर करती हैं। इस विश्लेषण से कई भाई समझ पायेंगे या नहीं ? परन्तु मैं जब भी अहिंसा के ऊपर चिंतन करता हूँ तो इस बारीकी की स्थिति के आधार पर अपनी स्थिति को रखता हूँ। यह हिंसा नहीं दिखती है, परन्तु उस व्यक्ति ने अपने जीवन का कोई खयाल नहीं किया। प्रमत्तता के साथ वह अपने प्राणों को नाश कर रहा है। जहां शरीर में प्राणों को संगठित करने वाली कोशिकाएं हैं, वहां प्राण भी शरीर में अनेक तरह के हैं, उन प्राणों को भी क्षति पहुंचती है। और परिणाम यह होता है कि यदि रोजाना पीता रहा तो उसकी मृत्यु तक हो जाती है। सारे प्राण नष्ट हो जाते हैं। आप आए दिन सुनते भी होंगे कि इतने लोग शराब पीकर मर गए। यह व्यक्ति के जीवन को समाप्त करने वाली है। इस का त्याग म. गांधी ने किया, परन्तु वे इसे कितनी बारीकी से समझ पाए ? आज का युग बारीकी से समझने का युग है।

मदिरा में सूक्ष्म रूप से जहर रहा हुआ है। शायद डॉक्टर लोग पकड़ नहीं पाए। वे स्वयं व्यसनी हों और नहीं कह रहे हों। परन्तु यह अवश्य है कि यह जहर है। जिसने मदिरा से प्रेम कर लिया उसका लंबा जीवन नहीं बन सकता है। मैंने आपसे कहा तो इसी दृष्टि से कहा कि यहाँ ऊपर से तो दिखने की स्थिति नहीं है परन्तु जो इस मदिरा को बनाते हैं, प्रचार-प्रसार में लगे हैं, वे भी तो कुछ-न-कुछ हिंसा के भागी हैं। जिन्होंने स्वार्थ के वशीभूत

होकर इस जहर को प्रश्रय दिया और अपने दोस्तों से भी कहा कि मस्तिष्क अच्छा रहेगा। तो उन्होंने भी धीरे-धीरे मानव जाति में अज्ञात खतरा पैदा किया। यदि धीरे-धीरे मानव को खत्म करना हो, तो अफीम और मदिरा या तंबाकू पिलाइए। यह विषय आप स्वयं सोचिए कि कितना मनुष्य के लिए घातक है। तो बंधुओ ! आप सुझाए हैं, चतुर हैं और जहां भ.महावीर की अहिंसा को महत्त्व देते हैं, तो इस हिंसा के प्रतिपक्षी सूक्ष्मतम अहिंसा को भी समझने की चेष्टा करें। मैं कोई राजनीतिक दृष्टि से विवेचन नहीं कर रहा हूँ। मेरा यह उद्देश्य भी नहीं है। मेरा उद्देश्य तो सिर्फ अहिंसा का प्रतिपादन करना है। ऐसे तत्त्व से व्यक्ति बचे और जहां कहीं प्रश्रय मिलता है, तो उससे दूर रहे। जन-मानस में इसका प्रचार करना या खुली छूट देना, जनता के प्रति उपेक्षा भाव है। सच्ची आत्मीयता नहीं है। जिसके प्रति लगाव हो, जनता के लिए अहितकारी हो, जीवन को नष्ट करने वाली हो और उस तत्त्व को प्रश्रय देना या छूट देना कतई योग्य नहीं है।

सरकार ने जहां शराब बंद किया परन्तु लुके-छिपे रूप में कितनी चलती है ? ब्लेक करने की तो मनुष्य की आदत पड़ गई है। कानून बनाने का प्रश्न है, तो बनाने वाले खूब चिन्तन-मनन करें कि हम जनता का प्रतिनिधित्व करने के लिए आए हैं। हित करने के लिए आये हैं या अहित करने के लिए आए हैं अथवा पैसे कमाकर बंगले में सुरक्षित रखने के लिए आए हैं ? वस्तुतः जनता का कल्याण करना है तो यह चिंतन कुर्सी पर बैठने वाले व्यक्तियों को भी करना चाहिए। केवल कुर्सी और पैसों का ही चिंतन है, या जनता का भी चिन्तन है ? मैं सोचता हूँ कि सरकार क्यों बनाई जाती है ? क्या पैसा बटोरने के लिये अथवा सत्ता हासिल करके पैसा कमाने के लिये ? उनकी भावना रोग मिटाने की नहीं है। इधर तो जनता का रोग मिटाने के लिए हॉस्पिटल खाले जाते हैं, आयुर्वेदिक, यूनानी और होमियोपैथी दवाखाने खोले जाते हैं, उधर रोग को प्रश्रय दिया

जाता है। इससे परस्पर में विरोधाभास उत्पन्न होता है। आप सुझाए पुरुष हैं, विचार करना। मैंने तो अपने विचार रख दिए हैं। आप चिन्तन करें। विवेकशीलता से अपने जीवन को बचाने की चेष्टा करें। मैं तो कहता हूँ कि आपको अपने वर्तमान जीवन को सुरक्षित रखना चाहिए। इस मानवीय तन में परिपूर्ण स्थिति से पहुँचना चाहें, तो ऐसी दुर्व्यसनी चीजें, जैसे मदिरा, तंबाकू, अफीम आदि का सर्वथा बहिष्कार करने की चेष्टा करें। गांधीजी ने जीवन में त्याग को अपनाया और फिर उन्होंने प्रचार किया। मांस को व्यक्ति बिना सोचे-समझे ग्रहण कर लेता है। मैं सुनता हूँ कि डॉक्टर किसी का ऑपरेशन करता है, किसी को खून देता है, तो मिलान करते हैं कि इस व्यक्ति का खून मिलता है या नहीं ? मिल जाने पर ही वह खून चढ़ाया जाता है। जो खून लिया गया, तो परीक्षण करके लिया गया। परंतु बाजार में जो मांस बिकता है, वह किसके साथ किसका मांस मेल खाता है— यह भी तो परीक्षण करना चाहिए। मेल नहीं खाता है, तो इससे भी जीवन का खतरा है। खून लिया गया, तो यहां कौनसा खतरा है ? जीवन-भर तक मांस नहीं खाये तो क्या हो सकता है ? कुछ बंदर मांस के आहार पर रखे गये। और कुछ सब्जी के आहार पर। परिणाम यह निकला कि जो बंदर मांस के आधार पर रखे गए थे, उनका आयुष्य कम हुआ, गुस्सा आया, चिड़चिड़ापन आया और बुद्धि भी पूरी काम करने वाली नहीं रही। इसके विपरीत जो सब्जी पर रखे गये, उनका आयुष्य औसतन बढ़ा और दूसरी शिकायतें भी नहीं हुई। यदि चिंतन किया जाय तो ये सारी चीजें हिंसाकारक हैं। भगवान महावीर की इस परिभाषा के अनुसार प्रमत्त योग की स्थिति आती है। प्रमाद में पड़कर अपने जीवन को भी भूल जाता हैं। हम भगवान महावीर की अहिंसा की बातें करते हैं, परन्तु उसकी प्रतिपक्षी हिंसा क्या है ? इस पर चिंतन नहीं करते हैं। यही करते हैं कि अमुक-अमुक में हिंसा हो गई। और ज्यादा से ज्यादा दृष्टि जाएगी तो एकेन्द्रिय जीव की हिंसा हो गई। परन्तु यह नहीं सोच पाते हैं कि

एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय की हिंसा में कितना अंतर है ? हरी वनस्पति और पंचेन्द्रिय की हिंसा में रात और दिन का अंतर है। मनुष्य को गहस्थाश्रम में रहते हुए महाहिंसा से बचना चाहिये। पंचेन्द्रिय की हिंसा भी महाहिंसा है। एकेन्द्रिय की हिंसा इतनी महाहिंसा नहीं है। परन्तु भ.महावीर के सिद्धान्त को समझने का प्रयास कौन करे ? किसी ने हरी सब्जी ले ली तो उसको कह दिया कि तुम महापापी हो गये। यह कैसे सर्टिफिकेट दे दिया ? उसने शरीर निर्वाह से लिया। यदि यही है तो फिर मांस खाने वाला व्यक्ति कहां जाएगा ? यह खेती का धंधा या सारे धंधे यदि महापाप के होते, तो भ.महावीर के अग्रगण्य श्रावक पांच सौ हलवा खेती रखकर सब्जी नहीं उगवाते और खेती नहीं करवाते। गायों को, बैलों को कितना घास खिलाया जाता होगा ! कितना पानी लगता होगा; बछड़े पैदा होते होंगे, कितनी खाद होती होगी। तो महापाप कह देते और कहते— अरे श्रावको ! तुम महापाप क्यों कर रहे हो ? परन्तु उन्होंने इसको महापाप नहीं कहा। बड़ी हिंसा का त्याग करवाया। वहां सम्यक्दृष्टि भाव था। कुव्यसनों का त्याग कराते हैं, तो उसमें मदिरा वगैरह भी आ जाती है। मेरे भाई सोचते हैं कि ये तो ऐसे ही करवाते हैं। परन्तु मैं सोचता हूँ कि इनमें हिंसा रही हुई है। दूसरे की हिंसा होगी या नहीं, परन्तु स्वयं की हिंसा होती है। हिंसा बारीक भी है और बड़ी भी है। बहुत बारीकी से कई लोग विवेचन वही करते हैं और सोचते हैं कि देखो ! महाराज के यहां रेल, मोटर में गए दर्शन करने के लिये तो यह सारा पाप किसको लगेगा ? साधू को भी नंबर में लेते हैं कि साधू को लग जाएगा। देखो न महाराज ! आपके निमित्त से ही तो हम यहां आए हैं ? और यहां पंडाल बना, तो इसमें भी हिंसा हुई। वर्तमान में हिंसा का प्रसंग नहीं है। इस बात को लेकर मेरे भाई सही ढंग से तथ्य को नहीं समझ पाते हैं। परिणाम यह हुआ कि सम्यक्दृष्टि भाव का भी पालन ठीक तरह से नहीं कर सकते। अरे ! आप यहां आए तो क्या महाराज ने आपको बुलाया या कुंकमपत्री

भेजी थी ? आप अपना कार्य करते हैं, अपनी इच्छा से आते हैं और रहते हैं। भोजन तो वहां भी करते थे और यहां भी करते हैं। घर पर क्या आरंभ—समारंभ नहीं करते थे ? रास्ते में भी आरंभ—समारंभ होता है। आप तत्त्व की दृष्टि से सोचिए कि एक परिवार में सौ व्यक्ति हैं। वे सौ ही अलग—अलग रसोड़ा बनायें। और एक परिवार सौ व्यक्तियों का है जिनका एक ही रसोड़ा है। तो आप सोचिए ! अग्नि का आरंभ कहां ज्यादा होगा ? पानी का कहां ज्यादा होगा ? आप तटस्थ भाव से सोचिए ! मेरा काम है कि मैं तत्त्व का विश्लेषण कर दूं। मनुष्य अपनी स्थिति से पहुँचते हैं। महाराज के लिये नहीं पहुँचते हैं। यहां हॉस्पिटल बना है। यहां छोटे-छोटे गांव के लोग पहुँचते हैं और इलाज करवाते हैं। उन्हें गमनागमन की क्रिया तो लगती ही है। वे यहां रहते हैं, तो चौका लगाकर भी रहते हैं। वे भाई, जो हॉस्पिटल में आए, तो क्या हॉस्पिटल बनाने वाले लोग नहीं बनाते तो नहीं आते ? परन्तु हॉस्पिटल का मतलब ही यह है कि आर्तध्यान से लोग बचें। और यदि हॉस्पिटल के लिए ही आते तो, पहिले भी आ जाते। परन्तु रोग की निवृत्ति के लिए वहां पहुँचे। और वहां ढाबे में खाया या बनाकर खाया तो यह उनकी स्वतंत्रता की बात है। यहां हॉस्पिटल की नीयत से नहीं पहुँचे। रोग के निवारण के लिए पहुँचे। उसका पाप उनके साथ है। वैसे ही मनुष्यों को शारीरिक रोग जितने भी हैं, उनसे ज्यादा मानसिक रोग हैं। जब वे अनुभव करते हैं कि मानसिक रोग बढ गया है, तो उसका शमन करने का तरीका कहां है ? वे संतों के पास पहुँचते हैं। वहां कोई चाबी पा जायेंगे, तो हमारा रोग मिट जाएगा। हम भले दुनिया के शास्त्र मस्तिष्क में भर लें और बोल जायें परन्तु उनका मक्खन, चाबी नहीं प्राप्त की। ऐसे तो संत क्यों मेहनत करें। एक दफे चूड़ी भर ली जाए। टेप रेकार्ड की तरह शास्त्र रट लिये और उनका मर्म और तथ्य नहीं समझा कि हिंसा किसमें है और अहिंसा किसमें है, तो उसका प्रावधान नहीं हुआ। वे उसके पाप के भागी हो जाते हैं।

चंदन का भार खर लेकर चलता है। वह भार का भागी बनता है, परन्तु चंदन की सुगंध वह नहीं ले पाता है। इसी तरह वीतरागदेव की वाणी के अनुसार हिंसा क्या है ? महाहिंसा कहाँ है ? और अल्पहिंसा कहाँ है ? इसका विश्लेषण नहीं समझा, तो वह भले ही कितने ही शास्त्र रट ले, वह सारा खर के भार के समान हो जाएगा। वह सम्यक्दृष्टि नहीं बन पाएगा। वीतरागदेव ने जितनी हिंसा बताई, तो हिंसा कहां होती है, कहां नहीं होती है ? यदि इसका ज्ञान नहीं हुआ और सहसा गहस्थ ने आरंभ कर दिया, तो महापापी हो गया। ऐसा फतवा मिल गया तो समझना चाहिये भगवान महावीर के सिद्धान्त को सही मायने में नहीं समझा। इस प्रकार महापाप के काम लेते हो। तुम सब यह कार्य बच्चों को सौंप दो। इस प्रकार बिना किसी लाग-लपेट के, क्या नहीं कह सकते थे ? या भगवान को कोई चंदा-चिद्धा लेना था ? भगवान तो स्पष्ट कहते थे। जब श्रेणिक ने पूछा, भगवन् ! मैं मरकर कहां जाऊंगा ? तो साफ कह दिया कि नरक में जाओगे। उन्होंने यह भी नहीं सोचा कि इतना बड़ा सम्राट और मैं क्या कह रहा हूँ ? अब मैं मूल प्रश्न पर आऊँ कि आप यहां पहुंचते हैं, तो आप मानसिक रोग को मिटाने के लिये, आत्मशुद्धि के लिये, निर्जरा के लिये पहुंचते हैं। या दूसरी दृष्टि से पहुंचते हैं ? भगवती सूत्र में जहां तुंगिया नगरी का वर्णन है तो वहां नगरी के बाहर भगवान महावीर पधारे। तुंगिया नगरी के श्रावक इकट्ठे हुए। जहां दो-चार रास्ते इकट्ठे होते थे, तो वहां मिले और कहने लगे कि भ. महावीर आए हैं तो जाओ। वाणी सुनो और शंका-समाधन करो। दर्शन लाभ है। मानसिक शांति मिलती है। यह भगवती सूत्र का वर्णन है। मैं कथा का रूपक ही दे रहा था। मैं यह कह रहा था कि जहां हिंसा और अहिंसा का प्रसंग है वहां हिंसा और अहिंसा को ठीक तरह से समझने की स्थिति है। हिंसा को समझिए कि हिंसा कहां है और अहिंसा कहां है ? आहार में आरंभ-समारंभ होता तो श्रावक अपनी स्थिति से चलें और साधू अपनी स्थिति से चलें। वे

यहां पहुंचते हैं, तो उनकी जिम्मेवारी उनके ऊपर नहीं है। यहां पंडाल में होता तो मैं भी हूँ। यह पाट इसी दृष्टि से बनाया जाता है, तो मैं भी भागीदार हूँ। यह स्वाभाविक है। कई भाई कह देते हैं कि बहुत बड़ा आडम्बर हो गया। तो क्या लोगों का एकत्रित होना आडम्बर है ? परन्तु जहां ट्यूबलाइटें लगती हों, पंखे चलते हों, गाजे-बाजे होते हों, फरियें लगाई जाती हों, चार-चार बैण्ड बजते हों, तो यह क्या है ? यह आडम्बर कहलाता है। परन्तु यहां भी इकट्ठे होने से आडम्बर हो गया तो फिर तीर्थकरों के यहां तो बहुत इकट्ठे होते हैं। भगवान महावीर ने जब केवलज्ञान प्राप्त किया और समवसरण लगा तो जनता कहां-कहां से भगवान के दर्शन करने तथा वाणी श्रवण करने को आई ? भ.महावीर के केवलज्ञान का महोत्सव मनाने के लिए, देवतागण कितने वैक्रिय शक्ति के विमान बनाते हैं और महोत्सव मनाने के लिये धड़ाधड़ आते हैं। भ.महावीर के समवसरण में देवगण और मनुष्य भी पहुँचे। अनेक जाति के पशु-पक्षीगण भी पहुँचे। यानी समवसरण में बारह प्रकार की परिषदा इकट्ठी होती है। यह भी आडम्बर कहलाना चाहिए था। राजा कौणिक तो चतुरंगिनी सेना सजा कर पहुँचा था अर्थात् हाथी की सेना, घोड़ों की सेना, रथों की सेना और पैदल सेना लेकर वह भगवान को वंदन करने के लिए पहुँचा। ये सारे के सारे वहां क्यों पहुँचे ? अरे ! वहां इन के जाने से रास्ते में तो बहुलता से हिंसा होती है। वे क्या समझते हैं ? परन्तु वह साज-बाज लेकर जाता है। भ.महावीर ने इसका भी निषेध नहीं किया। मुझे तो कहीं भी निषेध देखने को नहीं मिला। भगवती सूत्र में वर्णन आया है कि उदायन महाराज जब वैराग्यावस्था में चल रहे थे, वे दीक्षा लेने की तैयारी करते हैं। रात्रि में एक समय धर्म जागरण में रहते हुए विचार करते हैं कि यदि भ. महावीर यहां पहुंच जायें तो मैं उनके चरणों में दीक्षा ले लूँ। यह बात भ.महावीर के ज्ञान में झलक गयी। वे नगर के बाहर उद्यान में पधार गए। उद्यानरक्षक माली ने आकर सूचना दी कि भगवान महावीर

पधारे हैं। उदायन महाराज ने आज्ञा दी कि सारा शहर सजाया जाए। इतनी सजावट कराने के बाद वे सज-धज के साथ वहां पहुँचे। तो बताइए ! भगवान तो केवलज्ञानी थे, वे कह देते कि राजन् ! यह सब क्यों किया ? तो बंधुओ, आपके मस्तिष्क में वीतरागदेव की हिंसा और अहिंसा स्पष्ट हो, इसलिए मैं जो बात कह रहा हूँ वह शास्त्रीय मूल पाठ में है, वह विषय देख लें। मैं भाव वही बोल रहा हूँ— यदि हूबहू नहीं बोल रहा हूँ और भावों में कोई बात गलत हो, तो मैं संशोधन करने को तैयार हूँ। मैं मन से कहता हूँ। शास्त्रीय विषय को देख रहा हूँ और चिन्तन भी कर रहा हूँ। शास्त्रीय विषय मेरे मन का भी हो, परन्तु मैं प्रतिकूल नहीं जाऊँ, ऐसी भावना रहती है। मैं कह रहा था कि भगवान महावीर की बताई हुई हिंसा और अहिंसा क्या हैं ? लोग इसे ठीक तरह से समझने की चेष्टा नहीं करते। यहां हिंसा हुई, तो यह आडंबर हुआ क्या ? गौशालक भगवान महावीर के संबन्ध में कैसे ही शब्दों का प्रयोग करता रहता था, परन्तु वे तटस्थ भाव से रहे। शास्त्र में वर्णन है कि जहां हिंसा हो या निर्जरा का काम हो, वहां साधु को तटस्थ रहना चाहिए। उसको निषेध भी नहीं करना चाहिए और प्रशंसा भी नहीं करनी चाहिए। राजा परदेशी केशी श्रमण के पास पहुँचा और सारी परिस्थिति को श्रद्धा के साथ समझा, तत्त्वों को समझा। जाते वक्त केशी श्रमण ने राजा परदेशी से कहा, राजन् ! अब रमणिक रहना, अरमणिक मत होना। तब परदेशी ने कहा, भगवन् ! अब मैं मेरी आमदनी के चार विभाग करके चलूंगा। यदि मेरी वीतरागदेव के वचनों में सही मायने में श्रद्धा है, तो चार भाग करूँगा। और चौथे भाग में से बड़ी-बड़ी दानशालाएं खुलवाऊँगा। व्रत का पालन करता हुआ चलूँगा। इस पर केशी श्रमण कह सकते थे, कि अरे राजन् ! तू इतने दिन तो महापाप नहीं कर रहा था, तो आज क्यों कर रहा है ? तू आमदनी के चार हिस्से निकालकर यह महारंभ क्यों कर रहा है ? परन्तु केशी श्रमण चुप रहे। उन्होंने हां और ना कुछ नहीं कहा।

यदि शुभ भाव है तो पुण्यबंध होगा। और आरंभिया हिंसा है तो गहस्थ के आरंभिया हिंसा नहीं छूटती है। जब तक परिपूर्ण रूप से त्याग नहीं करेगा, तब तक चलती रहेगी। आप खुले बैठे हैं, प्रत्याख्यान नहीं कर रहे हैं तो बैठे-बैठे भी जिनके आरंभिया हिंसा का त्याग नहीं है, उस पाप की लिंक आ रही है। आप जरा चिन्तन कीजिए। शास्त्र का पाठ है, कि “जेयदाणं पससंति वह मिच्छन्ति पाणिणो। जेयण पडिसेहंति वित्तिदेयं करंति ते।” यदि केशी श्रमण उसकी प्रशंसा कर देते तो प्राणीवध के भागी बन जाते और निषेध कर देते तो प्राणियों के अंतराय लगती। तो हां या ना कुछ भी नहीं कह रहे थे। तो आप अपनी इच्छा से यहां आकर रहते हैं। रसोई जीमें या नहीं ? भूखा कौन रहता है ? आप अपनी इच्छा से चलते हैं। साधु को अपनी स्थिति से रहना चाहिए। श्रावक अपनी स्थिति से, अपने कर्तव्य से चलता है। यह उसका आचार है। समकित के आठ आचारों में वात्सल्य भावना भी एक आचार है। शास्त्रकारों ने बहुत बारीकी से विश्लेषण किया है। यह विषय जनता के सामने नहीं आता है, तो हिंसा समझ लेते हैं। इधर तो छोटे प्राणियों की हिंसा हुई और इधर ऐसे शब्द बोल दिये कि हृदय में घाव कर दिये। तो बिना सोचे-समझे बोल देना, क्या यह हिंसा नहीं है ? और थोड़ा-सा प्रसंग आया और मन के मुताबिक हुआ तब तो खुश हो गए और नहीं हुआ तो भला-बुरा कह दिया। तो यह हिंसा-अहिंसा इतनी सरल नहीं है कि झट से समझ में आ जाए। बाजार में कपड़ा खरीदने को जाता है इनसान, तो उसमें भी उसको बहुत दिमाग लगाना पड़ता है। तो वीतरागदेव की अहिंसा को समझने में कितना दिमाग लगाना पड़ेगा ? भगवान ने भगवती सूत्र में कहा है कि —“छापढाणवल्लय” — साधु जीवन में चल रहे हैं तो एक साधु अधिक परिणामों की स्थिति से और एक कुछ परिणामों की स्थिति से महाव्रतों को सुरक्षित रख रहा है। एक साधु दूसरा संख्यात, असंख्यात भाग और अनन्त भाग भी है, परन्तु साधु जीवन से निष्कासित नहीं किया। उसे सर्टिफिकेट

दे दिया जाता है। जरा-सी गलती हो गई, तो अरे ! यह संयम से भटक गया है। कौन-सा थर्मामीटर है ? तो बारीक और पैनी दृष्टि से समझने पर ही हिंसा-अहिंसा का स्वरूप समझ में आ सकता है। क्या साधु कपड़ा है ? साधु जीवन के लिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि पांच महाव्रत हैं। जिनमें मूल है अहिंसा। अहिंसा के बगैर महाव्रत टिक नहीं सकते। यह अहिंसा परिपूर्ण प्रतिज्ञा है। इसे धारण कर लिया तो दूसरे महाव्रत अपने-आप ठीक हो जायेंगे। अहिंसा महाव्रत नहीं है तो अन्य महाव्रत शोभा नहीं पायेंगे। अहिंसा, यह कितनी विराट् है। प्रतिपक्षी हिंसा कैसी है ? किसी प्राणी को मारने में हिंसा है। तो उसका भी संवर्धन, संरक्षण करना, मनसा, वाचा, कर्मणा उन्नति चाहना और आध्यात्मिक चिन्तन करना। ये सारे के सारे अहिंसा में हैं। परन्तु चट से अर्थ किया कि किसी को नहीं मारना, इतनी तो अहिंसा है। कोई प्राणी संरक्षण में आया और उसका संरक्षण किया, तो यह भी हिंसा है। एक व्यक्ति सत्य बोलता है और असत्य का त्याग करता है, उसने असत्य का त्याग किया, तो विपरीत हुआ सत्य का पालन। यह धर्म हुआ या नहीं ! नेगेटिव और पोजेटिव एक-दूसरे के विपरीत हैं। वैसे ही हिंसा का त्याग किया और मरते हुए प्राणी की सहायता की, संवर्धन किया, तो यह अहिंसा है। यदि नहीं मारना—इतना ही अहिंसा का स्वरूप है, तब तो किसी को नहीं मारेंगे। इस प्रकार की अहिंसा के भाव कल्याणप्रद नहीं हैं। गांधीजी ने कहा कि दूसरे की स्थिति को अपनी स्थिति में लोके, तो नहीं मारोगे। ऐसी अहिंसा किसी काम की नहीं। परन्तु भगवान महावीर ने जो अहिंसा का स्वरूप रखा, वह दुनिया के सामने है। भ.महावीर की अहिंसा को लेकर सब प्रभावित होते हैं। थोड़ा-सा रूपक भी दुनिया के सामने आया, बड़े प्रभावित हुए। विदेशों में भी इसकी वाहवाही हुई। भारत में गांधी जयंती मनाई जाएगी। परंतु गांधीजी की जितनी मात्रा में अहिंसा थी, उसको अपनाने की कितनी कोशिश की जा रही है ? उन्होंने मांस, मदिरा, अंडे और परस्त्री का त्याग किया। क्या स्वतंत्रता के अनुगामी, स्वतंत्र भारत के नागरिक, गांधीजी की जयंती मनाने वाले इन चीजों का त्याग करेंगे ? और करायेंगे ? यह नहीं कर रहे हैं और वही कर

प्रार्थना

“धार तरवारनी सोहेली, दोहेली, यह चौदमा जिण तरणी चरण सेवा।

धार पर नाचता, देख बाजीगरा, सेवानी धार पर रहे न देवा।।

एक कहे सेविये विविध क्रिया करे, फल अनेकान्त लोचन न देखें
फल अनेकान्त किरिया बापड़ा, र[वडेचारगति मांहेलेख।। धार.।।”

बंधुओं ! आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने वाले साधक के लिये बहुत ही कठिन स्थिति आती हैं कवि का संकेत है, कि तलवार की धार पर चलना सरल है, परन्तु वीतराग देव के सिद्धान्त के आधार पर जीवन को चलाना, अत्यन्त कठिन है। वीतराग देव का सिद्धान्त अत्यन्त वैज्ञानिक, जन-जन के अनुभव गम्य एवं जन के जीवन को सुशोभित करने वाला है। ये सिद्धान्त जीवन के लिये बहुत ही महत्वपूर्ण है। कवि ने तलवार की धार की उपमा देने से भी इन्कार कर दिया। कि तलवार की धार पर चलना, दुनिया के लिये कठिन है, फिर भी कदाचिद बाजीगर अपनी विधाओं के बल से, तलवार की धार पर चलने की चेष्टा कर सकता है। परन्तु वीतराग देव के सिद्धान्त की बारीक और पैनी अवस्था है। उस अवस्था पर चलना इस तलवार की धार से भी अति कठिन है। ऐसी अध्यात्म वाणी का मार्ग, भव्यों का मिला है, वे भव्य अपने आपको सौभाग्यशाली समझते हैं। ऐसे मार्ग की साधना आप और हम सब करने की स्थिति में हैं। इस मनुष्य जीवन में अनेक तरह के उतार-चढ़ाव आते हैं। इन उतार-चढ़ावों के बीच में मानव का मस्तिष्क एक लक्ष्य की ओर स्थिरता के साथ चलने में कठिनता का अनुभव करता है। फिर भी, इन सारी विषय परिस्थितियों में उलझी हुई दुनिया के समक्ष, भौतिक झंझावतों में आध्यात्मिक प्रकाश स्तम्भ का काम करने वाला वीतराग देव का मार्ग सौभाग्य से जन समुदाय के बीच विद्यमान है। जनता इस मार्ग को भले ही समझ पाए या नहीं समझ पाए, वह परन्तु मार्ग अपने आप में जीवन के समग्र क्षेत्रों को छूने वाला है। सर्वांगीण विकास के लिये भव्य प्रसंग है। ऐसे भव्य प्रसंग का लाभ जिन

महानुभवों को, जिन सौभाग्य शालियों को मिला है, वे यदि इसके महत्व को समझे और तदनु रूप अपने जीवन को ढालने का यत्न करें, तो उन जीवन अलौकिक बन सकता है। जिन महानुभवों ने इस मार्ग को समझा, जीवन में स्थान दिया, अनुकरणीय आदर्श के साथ व्यवहार में ढालने की चेष्टा की, उनका जीवन अलौकिक आदर्श के रूप में गौरवान्वित हुआ। भविष्य में भी इस प्रकार का जीवन बनाने वाले महानुभवन, अपने जीवन को सर्वांगीण विकास की दृष्टि से, महत्वपूर्ण बना सकते हैं ऐसे मार्ग को पाने वाले महानुभाव, अपने आपको सौभाग्य शाली समझें इस भौतिक वादी युग में चारों तरफ विचार और वासना की ज्वाला धांय-धांय करती हुई जन-मानस के मस्तिष्क को प्रभावित कर रही है। नाना प्रकार के विकारी प्रदर्शन, उपन्यास, एक दूसरे के साथ हंसी-मजाक, विकारी तत्त्वों का जागत करने वाले विषय चारों ओर दृष्टिगत हो रहे हैं। इस युग में आध्यात्मिक जीवन का पवित्र मार्ग बिरलोही पुण्यशालियों को मिलता है। इन पुण्य शालियों की गिनती में आप और हम भी आ सकते हैं। हम इसको समझें या नहीं समझें, इसका बारीकी से अध्ययन करें या नहीं करें, हम अपनी दृष्टि के अनुसार दुनिया की तस्वीर लेते रहें यह हमारी दृष्टि की बात है परन्तु यह वीतराग देव का उपदेश व्यक्ति को स्पष्ट और उज्ज्वल मार्ग दिखा रहा है। कि इन्सान। तू इन्सान है। दिव्य शक्ति का धारक है। अपनी दिव्य शक्तियों जागत करने के लिये वर्तमान क्षणों के समझ। आंधी और तूफान के बीच में बिना डोर की पतंग मत बन। उड़ना भी है तो डोर के सहारे उड़। डोर के सहारे उड़ने वाली पतंग कितनी ही उड़ जाए, चारों दिशा में परिभ्रमण कर लें। फिर भी डोर के सहारे होने से, उसका कुछ भी नहीं बिगड़ता है। बिना डोर की पतंग भले ही आकाश में उड़ जाए, परन्तु कहां जाकर गिरेगी, इसका कोई पता नहीं लगेगा। इस युग में प्रतिभा संपन्न, प्रज्ञावान, बुद्धिशाली व्यक्ति को गंभीरता पूर्वक समता के धरातल पर आना है, चिंतन करना है। तटस्थ भाव से हर विषय को समझने का प्रयास करना है। उड़ी-उड़ाई हुई बातों के चक्कर में आ जाना और मन कल्पित धारणायें बना लेना स्वस्थ मस्तिष्क का काम नहीं है। निर्मल मस्तिष्क वाले व्यक्ति हर क्षेत्र में सावधानी पूर्वक चलते हैं। वे बाजारू बातों के साथ नहीं उड़ते। बाजार में व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न तरह की बातें उड़ा सकते हैं। कहते हैं “बारह हाथ की ककड़ी और तेरह हाथ का बीज” यह

भी बता सकते हैं। परन्तु चतुर ओर सुज्ञ पुरुषों को चाहिये, कि वे विचार करें कि यह कैसे संभव हो सकता है ? अरे ! बीज फल से बड़ा तो नहीं हो सकता। बारह हाथ का फल तो, तेरह हाथ का बीज नहीं हो सकता। आकाश-कुसुम की तरह इस प्रकार की बातें जन-मानस में व्याप्त होती हैं। भव्य जनों को स्वयं अपनी विलक्षण प्रतिभा से सोचने का काम करना चाहिए। वायु-मण्डल में बिना डोर की पतंग की तरह जो उड़ने की चेष्टा करते हैं ऐसे पुरुषों को मैं, भातभाव के साथ-मित्रवत् परामर्श देना चाहता हूँ, कि वे अपनी प्रतिभा को, अपनी बुद्धि को व्यवस्थित एवं निर्णायक रखें। वायु-मण्डल के आधार पर किसी व्यक्ति के प्रति कुछ विचार बना लेना, उन विचारों का प्रश्रय देना, उन विचारों के आधार पर अपना चिन्तन रखना। स्वच्छ पवित्र, प्रज्ञा-बुद्धि का काम नहीं है। यदि मानव-जीवन में भी निर्मल, पवित्र बुद्धि हमने नहीं बनाई, स्वच्छ आईने के तुल्य अंतःकरण को निर्मल नहीं किया तो मनुष्य जीवन की यह गरिमा उसके लिए प्रतिभा संपन्न व्यक्ति अपनी प्राप्त होना, नहीं प्राप्त होने के समान ही है। स्वच्छ बुद्धि की नहीं है। स्वच्छ बुद्धि वाले इन्सान को सुनी सुनायी बातों का ठीक तरीके से निर्णय करना चाहिये कि वस्तु स्थिति क्या है। मनो-विज्ञान की दृष्टि से जब किसी व्यक्ति के मस्तिष्क में किसी के प्रति कुछ धारणा बन जाती है तो वह व्यक्ति हर क्षेत्र में उसी तुला पर तोला करता है। चाहे वह व्यक्ति सही भी बात करे परन्तु ऐसी धारणा वाला व्यक्ति गलत रूप में ही तोलने की चेष्टा करता है।

सुज्ञ जनों को सोचना चाहिए कि मानव जीवन अत्यन्त पुण्यवाणी से प्राप्त हुआ है। हमें प्रज्ञा, बुद्धि को बिल्कुल तटस्थ रखनी चाहिये। इसी तटस्थ भाव से यथा स्थिति स्पष्ट तथा सत्यता पूर्वक दिल खोलकर बात करनी चाहिए कि भाई। कौन सी बात किस रूप में है। बाजार में ऐसी बात है, मुंह-मुंह बातें हो रही है। तो इसमें सत्य तथ्य क्या है ? वह सत्य तथ्य उस व्यक्ति से ही मिल सकता है। बाहर से नहीं। इन्सान को अपनी बहुमूल्य प्रतिभा से तटस्थ भाव से समता के साथ चिन्तन करने की आवश्यकता है कि कहां किस रूप में बात चल रही है ? कुछ व्यक्ति गलत वातावरण बनाने में ही आनन्द मानते हैं। उनका व्यवसाय ही यह होता है। एक उक्ति है कि -“घंटभित्वा पटं दित्वा, कृत्वा गभिवाहनं।” व्यक्ति से यदि और कुछ नहीं बनता है तो घट को फोड़ता है, पट को चीरता है गधे पर

चढ़कर येन-केन प्रकारेण वातावरण बनाकर अपने आप को प्रसिद्ध करने की चेष्टा करता है। यह वृत्ति इन्सान के लिए, सुज्ञ पुरुष के लिए कर्तव्य उपयुक्त नहीं है। प्रतिभा संपन्न, विवेक शील, बुद्धिशाली व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह किसी की बात का निर्णय संबंधित व्यक्ति से करे। उसके समक्ष जाकर दिल खोल कर रो कि यह कैसी बात है ? तो जिससे संबंधित जो बात है उससे जो स्पष्टीकरण होना वह अच्छा ही होगा। परन्तु उससे स्पष्टीकरण नहीं करके और बाजारू बातों की तरह जन-मानस में दूषित वायु-मण्डल पैदा करना, किसी के प्रति गलत धारणा बनालेना उचित नहीं है। इससे उस व्यक्ति का कुछ नहीं बिगड़ेगा परन्तु जो गलत धारणा बना रहा है, मनोविज्ञान की दृष्टि से उसके लिए अहित कर होगा। अतः प्रत्येक चतुर और बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वस्तु स्थिति का निष्कर्ष निकाले, न कि इधर-उधर की बातों में उलझे। अनेक बातें मेरे मन के मुताबिक नहीं हुईं तो उनको मन कल्पित तरीके से दुनिया में छोड़ दूँ, इसको सर्टिफिकेट दे दूँ, मन कल्पित तरीके से इसको संबोधन कर दूँ और किसी के साथ किसी को जोड़ दूँ यह सूझ, प्रतिभा संपन्न बुद्धि वाले का काम नहीं है। इन्सान को सचाई के साथ ही छान बीन के साथ ही कोई भी बात सुनने को मिले तो जिस व्यक्ति से संबंधित है उससे स्पष्ट निराकरण किए बिना उस बात को आगे चलाना, इधर उधर फैलाना किसी को किसी पद से संबंधित करना, लांछन कर देना और किसी को किसी गुट के साथ बांध देना, यह कैसे क्या बन रहा है। तो विवेकशील और चिंतनशील व्यक्तियों को स्वयं अपने अंतःकरण से सोचना चाहिये। स्वच्छ मन के साथ, स्वच्छ स्थिति और स्वच्छ तरीके से स्पष्ट निर्णय करे तभी वह वास्तविक खोज है, मानव जीवन का सदुपयोग करने वाला है। भले ही उसकी वृत्ति कैसी हो। परन्तु इन्सान का कर्तव्य है कि सुनी-सुनाई बात को पकड़कर अपनी धारणायें नहीं बना लेनी चाहिये। यदि ऐसी धारणायें बनाई गईं तो वह स्वयं के लिए खतरनाक है जिस विषय में जो गलत धारणा बनाई तो वह धारणा उस व्यक्ति के जीवन में होगी। सुज्ञ महानुभावों। आप चिंतक हैं ! ओर वीतराग देव का उपदेश है कि राग-द्वेष की परिणति से ऊपर उठकर अपने मन की विकार वृत्ति को शमित करें, किसी दोषी के प्रति हमने भाव बना लिये उसको शमित करें। तटस्थ भाव से हर व्यक्ति तो देखना चाहिये और सही खोज करनी चाहिये।

आज आपके सामने जो कुछ भी इससे पूर्व विदुशी महासती जी नानूकंवर जी और विद्वद्वर्थ शांति मुनी जी ने अपने-अपने भाव व्यक्ति किये तो उस समय में कुछ सोच रहा था कि कैसी विचित्र बात है। कई भाइयों को पुण्य से जो मानव तन मिला है, प्रज्ञा, बुद्धि मिली है उसका कितना दुरुपयोग कर रहे हैं। मैं तो तटस्थ भाव से चल रहा था, और मान रहा था कि अपने आप स्थिति साफ होगी। परन्तु थोड़े से भाव सामने आए तो स्पष्ट कर देना उचित होगा। मैं अंतःकरण की स्पष्टता से सत्य रखूंगा। मैं सत्य का उपासक हूँ। मेरी बात सत्य के लिए होती है। मैं किसी असत्य की छाया में या अन्य के प्रभाव में बहने वाला नहीं हूँ न किसी की हाँ में हाँ मिलाकर मैं मुख मीठी बातें करना पसंद करता हूँ। मैं स्वयं सोचता हूँ। यदि मेरे विषय में कभी कोई बात जन मानस में आ जाए और भले ही वह अच्छे से अच्छा व्यक्ति कहदे-अंतरंग व्यक्ति कह दे और कभी असत्य कल्पना से कह दे ओर आपको अत्यन्त प्रामाणिक पुरुष भी कह दे तो भी कतई विश्वास मत कीजिए। जब तक आप उसकी मुझ से पुष्टि नहीं कर ले तब तक बाजारू बातें-सुनी सुनाई बातों पर विश्वास करना, उनको फैलाना, किसी के प्रति कैसी धारणा बना लेना ये सब अज्ञानियों की बातें हैं। इन्सान को बुद्धिमिली है तो इसका सदुपयोग करना चाहिये। गलत बातों से इन्सान अपनी शक्ति नहीं बना सकता है। वह समाज और राष्ट्र का भी हित नहीं कर सकता है। और अपना भी हित नहीं कर सकता है। तो हम तटस्थ भाव से सत्य-असत्य क्या है उसका निर्णय लें। जिसने दूषित वायु-मण्डल बनाया उसी व्यक्ति से पूछे कि क्या बात है ? और यदि होती है तो सच है। परन्तु उसके पास नहीं जाकर और बाजार में विचित्र बातें फैलाता रहे तो यह व्यापार के नाते भी ठीक नहीं है। आप सुझ और चतुर हैं और वीतराग वाणी को पाये हुए हैं वीत राग वाणी के द्वारा तटस्थता के साथ सत्य को देखने की चेष्टा करें। दुनिया में कई चीजें आती हैं उनकी तरफ नहीं देखते सत्या सत्य को खोजें। जो आप में बुद्धि हो जो धारण बनाई है तो उसके साथ भी यही सोचना चाहिये कि संभव है यह धारणा गलत आधार पर बन गई हो तो खोज तो करूँ। जो बात जिससे संबंधित है उससे ही क्यों न पूछ लूँ कि मेरे विषय में यह बात है या अमुक के विषय में यह बात है। तो वास्तव में वह व्यक्ति प्रज्ञा संपन्न है सत्य का खोजी है उससे नहीं पूछकर इधर-उधर कान्न फूसी करना और सुझ

व्यक्ति को गलात तरीके से समझ लेना यह बुद्धि का सदुपयोग नहीं, जीवन का सदुपयोग नहीं और वीतराग देव का कथन नहीं है। आप मरे भाई हैं। और मैं आपको बुद्धि के अनुसार स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि जहां तक मेरा संबन्ध है मैं अपने आप में एक रूप रहना चाहता हूँ। दो रूप नहीं आप में एक रूप रहना चाहता हूँ। दो रूप नहीं बनाना चाहता हूँ। किसी व्यक्ति की हाँ में हाँ नहीं मिलाता हूँ तो मुझे गलत या पुराण पंथी समझ लिया जाए। परन्तु मैं कहना चाहता हूँ कि आपकी बुद्धि में यदि स्वच्छता है तो मेरे विषय में कोई बात हो तो मुझसे ही पूछना चाहिए। परन्तु मुझसे नहीं पूछकर और बाजारू बातों में आकार के यदि गलत धारणा बना लेना, नारद विद्या करना यह सुझ व्यक्ति के लिए हिता वह नहीं है। मुझ कोई चलते पुराणपंथी कहे ? परन्तु मैं सत्य का अन्वेषी हूँ। मैं ध्वजा की तरह डोलाने वाला नहीं हूँ। मैं वीतराग देव की वाणी के आधार पर चलने वाला हूँ। मुझे कोई पुराणपंथी से पुराणपंथी की उपमा। परन्तु देने से क्या होने वाला है ? मैं अंतःकरण के सहारे चलाता हूँ। और चला हूँ। यदि मैं पुराणपंथी हूँ तो उनको चाहिए कि वे दूर रहें। क्यों संपर्क सार्धे ? मैं तो सत्य के नाते कह रहा हूँ। हरेक की खोजी बनना चाहिये। और जिसके संबन्ध की बात हो तो उससे पूछना चाहिये। और गलत उपमा दे देना यह मनुष्यता के नाते भी ठीक नहीं है। मेरे मस्तिष्क में यद्यपि कई दिनों से बात आ रही थी। और शांति मुनि जी ने भी कहा तो मैंने सोचा कि क्या धरा है। और शांति मुनी जी ने बात कही तो मैं कह रहा हूँ कि आप उड़ती हुई बात पर ध्यान नहीं दें। कभी ऐसी उड़ती है। कि उसने ऐसा कहा, उसने ऐसा कहा ! परन्तु मूल से तो पूछो कि क्या है ! वहां तो नजदीके से बोलते रहना ! तो सत्यवादी का कर्तव्य है कि जिससे संबंधित हो तो दिल खोलकर बात करें। और चाहे उसके संबन्ध में था दूसरे के संबन्ध में किसी को ध्वजा पर चढ़ा देते हैं या जमीन पर पटक देते हैं तो यह कार्य उनका है कि जिनके पास कोई व्यवस्थित कार्यक्रम नहीं है और ऐसे ही जा रहे हैं और वायु-मण्डल में ऐसे ही डोल रहे हैं। उनकी ही व्यर्थ की प्रज्ञा बुद्धि है और वही इधर-उधर की बातें करते रहते हैं नारद विद्या करते रहते हैं। नारद विद्या की कई तरह की कलाएँ होती हैं। नारद ऐसी विद्या लगा देते थे कि लोग लड़ पड़ते थे। स्व. आचार्य महाराज फर्माते थे कि नारद जी सेठजी के पास पहुँचे। सेठजी ने उनको सत्कार दिया। उन्होंने कहा सेठ सा ! कैसे हो ? तो सेठ जी ने

कहा—बाबाजी ! सब अनांद हैं नारद जी ने कहा— औरर तो सब आनन्द है परन्तु घर में सेठानी जी कैसी है ? तो कहा— सीता के तुल्य है। राम के साथ सीता के तुल्य है। इतनी बात करके नारद बाबा हवेली में सेठानी जी के पास पहुंचे। सेठानी ने भी सत्कार—सम्मान किया ऊँचे आसन पर बिठाया। अब नारद जी ने सेठानी से वार्तालाप करते हुए कहा—सेठानी जी ठीक तो हो ! तो सेठानी ने कहा हां ! नारद बाबा जी । हमारे घर में तो राम राज्य चल रहा है। जो कहा देखो सेठानी जी ! तुम भोली हो। सेठानी ने पूछा क्यों बाबाज ! क्या बात है ! नारद जी ने कहा सब कुछ परन्तु क्या बताऊँ। कहना भी नहीं चाहता हूँ और कहे बिना रह भी नहीं जाता है ! सेठानी ने बड़ी उत्सुकता से कहा नहीं बाबाजी। आपको बात तो बतानी ही पड़ेगी। नारद जी ने कहा— अरे। तुम्हारे पति कौन है ? सेठानी ने कहा— कौन वे तो सेठ सा. कहलाते है। तब नारदजी ने कहा अरे ! यही तो भोलापन है। तू सब को यह बात मत कहना। तो सेठानी ने पूछा बाबाजी ! बताओ ! कौन है पति ? नारद जी ने कहा अरी ! तू बड़ी भद्रिक है। तेरे पतिदेव तो खारोल के छोकरे है। सेठानी ने कहा बाबाजी ! मुझे कुछ पता नहीं ! नारद जी ने कहा तुम स्वयं इस बात का पता लगा लेना। जब तुम्हारे पति देव रात्रि में आए और सो जाये तो उनके शरीर को चाटना। और खारा—खारा लगे तो समझ लेना कि खा रोल के पुत्र हैं। तो यह प्रमाण समझो। तो उनकी बात सुनकर सेठानी ने उस बात को मजबूती से पकड़ ली। और दिल में टान ली कि आज ही परीक्षा करनी है। परन्तु सेठानी ने यह नहीं समझा कि ये नारद बाबा तो नारद विद्या करने वाले है। अब नारदजी वहां से उठकर सीधे सेठ के पास पहुंचे और कहने लगे कि आपके घर में आनन्द तो है ? सेठ ने कहा अरे ! बाबाजी १ मैंने तो आपको पहिले ही कह दिया था कि जैसे राम के साथ सीता की जोड़ी मिली वैसी ही हमारी जोड़ी है। खूब अमन चैन से जिंदगी गुजर रही है। तो नारदजी कहने लगे अरे ! सेठ सा. ! आप अंतरंग मित्र हो तो कहना पड़ता। तो सेठ ने पूछा कहो बाबाजी। क्या बात है ? तो कहा — देखो ! भोले मत रहना। आप जिस सीता पर विश्वास कर रहे हैं वह किसकी पुत्री है ? तो सेठ ने कहा बाबाजी ? वह तो सेठ की पुत्री है। नारदजी कहने लगे बस। यही तो भोलापन है। अरे ! वह सेठ की पुत्री नहीं परन्तु डाकन की छोकरी है। और विश्वास नहीं हो तो आज रात को देख लेना। बाबाजी सेठानी को

भिड़ा गये। सेठानी को कह दिया कि तेरे पति खारोल का छोकरा है और सेठ को कह दिया तेरी पत्नी डाकन की छोकरी है। सेठ शांति के साथ चल रहा था, जीवन में बड़ा संतोष था, धर्म पत्नी पर निष्ठा थी। यह बात सुनकर जीवन में उथल—पुथल मच गई कि मेरी पत्नी तो डाकन है। बाबाजी संकेत दे गए कान में कहकर कि डाकन की पुत्री है। सेठ के लिए कह दिया कि खारोल का छोकरा है और इसको कह दिया कि तुम्हारी पत्नी डाकन है। ऊट पटांग बातें बताकर चले गए नारदजी। अब सेठ ने सोचा कि क्या बात है ! मेरी पत्नी डाकन है तो इसका पता लगाना चाहिए। तो आज सेठ अनजाने मन से घर पर आए और सो गए। और सोचा कि देखना चाहिए मेरी पत्नी क्या करती है ? तो सेठानी देखना चाहिए कि मेरे पति खारोल के छोकरे है या नहीं। तो सेठ तो बहाना बनाकर सो गया और खुर्राटें भरने लगा। इधर सेठानी ने उनका कपड़ा हटाया। तो सेठ मजबूत रहा। फिर सेठानी ने बनियान हटाकर कलेजे के वहां जबान लगाई। और जगाते ही कहने लगी अरे ! खारा है तो खारोल का छोकरा खारा होता है। और सेठ ने सोचा कि बाबाजी ने कहा सो ठीक है ! यह तो डाकन है। तो बाबाजी ने यह बात गुप्त रूप से बताई थी प्रकट रूप में नहीं बताई थी। तो चिल्ला सेठ कि डाकन है— डाकन है। तो सेठानी ने कहा खारोल का छोकरा—खारोल का छोकरा। अब घर में महा भारत छिड़ गया। और ज्यों ही यह आवाज पड़ौसियों के कानों तक पहुंची तो वे देखने लगे और सोचने लगे अरे ! इनके घर में कितना शांति का वातावरण था और दोनों और कितना मीठा संबन्ध चल रहा था। परन्तु आज अचानक यह महाभारत कैसे खड़ा हो गया ? तो एक ने पूछा सेठ जी ! आपके घर में तो आनन्द की गंगा बह रही थी तो क्या हो गया। इतने में ही तो दूसरे ने पूछा —सेठ जी ! यह तूफान कैसे खड़ा हो गया ? आपके शांतिमय वातावरण का तो हम लोगों अनुकरण कर रहे थे ? तो इतने में नारद जी भी आ गए और कहने लगे कि क्या बात है ? अरे ? सेठ जी ! ठीक तो हो न ! तो सेठ ने कहा—क्या कहूँ। मेरी पत्नी डाकन है। आपने गुप्त रूप से संकेत दिया तो मैं सावधान रहा। नहीं तो यह मेरा कलेजा खा जाती। जब यह बात सेठ ने कही तो पड़ौसी समझ गए कि यह सब करामात नारद बाबाकी है। उन्होंने कहा बाबाजी ! क्या आग लगा दी ? इनके घर में शांति का वायु मंडल चल रहा था तो क्यों आग लगा दी ? तो बाबाजी मुस्करा गए। और

सेठ सेठानी से कहने लगा अरे। तुम्हारी बुद्धि में इतना भी संतुलन नहीं रहा। मैंने कह दिया कि तुम्हारी पत्नी डाकन है तो इतना ही विश्वास नहीं रहा कि यह इतने वर्षों से रह रही है तो यदि डाकन होती तो कभी का खा जाती। आज ही क्यों खाती। परन्तु परीक्षा लेने के लिए सावधानी दिलाई और गुप्त रूप से कहा कि तुम्हारी पत्नी कलेजा नहीं खा जाए। तुमने अपनी पत्नी की स्थिति पर विश्वास नहीं किया। उसने तो जबान लगाई—कलेजा तो नहीं खाया। खैर! फिर मत करो। अब सेठ के पास से हटकर सेठानी के पास गए और पूछा कि क्या बात है। तो सेठानी ने कहा बात क्या है! वे तो खारोल के छोकरे हैं बाबाजी! तो बाबाजी ने कहा अरे! तू तो बिल्कुल भोली निकली। मैंने कहा और तुमने खारोल का छोकरा मान लिया। परन्तु खारोल का छोकरा कैसे? तो सेठानी ने कहा—आपने कहा था चाटने के लिये तो मैंने चाटा और इनकी चमड़ी खारी लगी। नारदजी ने कहा—अच्छा! अब तेरी हथेली चाट। तो चाटने पर वह भी खारी लगी। तो तू भी खारोल की छोकरा हुई। तूने कैसे विश्वास कर लिया? अरे! मैंने तो तुम दोनों का अंतरंग प्रेम देखना चाहा था। अब सेठ सात्र आये तो उनसे माफी मांग लेना। डाकन होती तो कभी की खा जाती और खारोळ का छोकरा होता तो सबका शरीर खारा ही लगता है। पहिले के ऐसे नारद होते थे कि वे तोड़ भी देते थे और जोड़ भी देते थे। परन्तु आज के नारद तो मन कल्पित बातों में बह रहे हैं। तोड़ना ही जानते हैं और कहते हैं कि यह तो तुम्हारे पक्ष का है और यह तो तुम्हारा विरोधी है। तो गलत कल्पना कर लेते हैं। परन्तु तटस्थ व्यक्ति वही है जो सत्य तथ्य को खाज पाए और जिससे सम्बन्धित हो उससे निर्णय करें। और ऐसा नहीं किया और बाजारू बातों में उड़ते रहे तो वहां तो कई बातें उड़ती रहती हैं। तो जनमानस में शान्ति का संचार नहीं होता है और जिससे संबंधित हैं उससे नहीं पूछते हैं तो वे भी खतरनाक हैं और ऐसे व्यक्ति अपने समाज, राष्ट्र और विश्व का भी उत्थान नहीं कर सकते हैं। ऐसे व्यक्ति वही हो सकते हैं जो सत्य तथ्य का निर्णय करने वाले नहीं होते। तो यह वायुमंडल बनाया जा रहा है—बन रहा है। मैं उन बुद्धिमान, सुज्ञ पुरुषों को यह कहना चाहता हूँ कि जो बात जिससे संबंधित हो उससे ही वह बात पूछिएण घनिष्ठ मित्र से भी नहीं पूछिए। विश्वास मत कीजिए और कोई व्यक्ति ऐसा भी कह दे कि अमुक व्यक्ति आपके विषय में ऐसा कह रहा था तो उससे ही पूछिए।

उसका विश्वास मत कीजिए। गलत वातावरण फैलाना यही उसका काम रहता है। वे एक दूसरे के माथे फुड़ाते रहते हैं। और अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं। कोई बात समझ में नहीं पूछ कर और बाजारू बातों में बहकर चलना अपनी बुद्धि की शक्ति का दुरुपयोग करना है। ऐसे व्यक्ति राष्ट्र के लिए धोखेबाज है। मेरे भाई कैसी बातें बाजारू उड़ते हैं जिनकी कोई कल्पना नहीं, कोई बात नहीं। शांति मुनि और अमरमुनि को मैंने इसी उद्देश्य से बुलाया कि बहुत दिन हो गए इधर आए हुए को। और भावना थी कि स्व आचार्य श्री जवाहर लाल जी महाराज जो एक युग पुरुष हो गए और जिन्होंने वीतराग सिद्धान्त की सेवा की उनके कुछ मौलिक विचार थे। ऐसे युग पुरुष के लिए कुछ व्यक्ति अच्छी धारणा नहीं रख रहे हैं और शास्त्रों के प्रति जो भ्रम पैदा कर रहे हैं। हमें भी कुछ सोचना चाहिए। समाज, समाज की स्थिति से चले। और नहीं सोचे तो हमारी जितनी शक्ति है तो साधु मर्यादा के अनुसार काम कर सकते हैं। तो मैंने सोचा कि उदयपुर का चौमासा है। यहाँ शास्त्र और ग्रंथ मिल जाते हैं तो शांति मुनिजी को पास में रखकर जो वीतराग सिद्धान्त के प्रति जो गलत धारणायें हैं तो उस विषय में हम अपना कर्तव्य करें। सरल ठीक समझेगा तो अपना लेगा। इसीलिए शांतिमुनिजी को बुलाया कि तुम भी जल्दी आ जाओ। हमारा कार्य हमारी शक्ति के अनुसार जो बन पड़ रहा है वह कर रहे हैं। अब मुझे कोई पुराण पंथी कहे और आदिवासी कह दे तो भी चिंता नहीं। परन्तु मेरी स्थिति है वैसी ही रहेगी। मैं इतनी जरूर सावधानी दिला रहा हूँ कि यदि आप मैं सत्यनिष्ठा है तो दिल खोलकर मुझसे पूछिए! मुझे पूछे बिना गलत धारणा बना लेना किसी को कहाँ खड़ा कर देना और किसी के विषय में कैसी धारणा बना लेना कहाँ तक उचित है। शांतिमुनिजी के विषय में मुझे पूछना चाहिए था। किसी को गलत तरीके से समझ लेना क्या बुद्धिमत्ता है? यह अनन्त पुण्यवानी से मनुष्य जन्म मिला है तो जिससे जो बात संबंधित है उससे पूछना चाहिए और जन मानस में गलत वायुमंडल फैलाना यह बिल्कुल गलत चीज है। आज किसी भी संत के लिए चाहे मेरे लिए कोई बात हो तो नग्न सत्य कहने को तैयार रहे और पूछे कि महाराज! क्या बात है? तो मैं समझूंगा कि ये मेरे सच्चे मित्र हैं। और मुझे नहीं पूछकर बाजारू बातें करें तो कितना कमजोर दिल है? किसी संत के विषय में गलत धारणा करके और मुझसे नहीं पूछकर बातें

करें बाजार में तो यह कमजोर दिल की बात है। तो तटस्थता से सोचें। मेरे गुटबंदी नहीं है। गुप्त बातें नहीं करता हूँ। कोई सभ्य मांगता है तो देता हूँ। न मेरे कोई षड्यंत्र है। साधु जीवन के धरातल पर चल रहा हूँ। साधना की स्थिति से चल रहा हूँ। और संतों के विषय में कोई बात हो तो मुझसे पूछिए। यदि मैं ठीक कहूँ तो प्रचार कीजिए ! और ठीक नहीं कहूँ तो वहीं समाप्त कर दीजिए ! यदि सच्ची इन्सानियत-मानवता है तो जिसके विषय में गलत धारणा हो तो उससे संबंधित व्यक्ति से पूछकर निर्णय करना चाहिए और गलत धारणा करना, किसी को पुराण पंथी और नवीन पंथी कहना क्या मानवता है ? मैं सत्य कह रहा हूँ। यह जीवन की खुली पुस्तक है। कोई भी और कभी भी पढ़ सकता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि मैं गलत तरीके से करूँ। मैं क्या करने वाला हूँ - क्या नहीं करने वाला हूँ - यह मुझसे पूछिए। परन्तु बाजारू बातों में विश्वास करें तो क्या आपकी बुद्धि का कोई संतुलन है। यदि इन्सानियत के नाते अपनी पुण्यवानी बढाना चाहें, सत्य की खोज करना चाहें तो जो बात जिससे संबंधित है उसी से पूछी जाए। यदि शांतिमुनि से संबंधित है तो उनसे पूछें या मुझसे पूछें। अन्यथा इधर-उधर की बातें करना ठीक नहीं है। मैं तो समझता हूँ कि मेरे साथी हैं। तो मैं बोल गया हूँ और किसी के दिल में मेरे भाइयों के ठेस पहुँची हो तो क्षमा याचना करता हूँ। परन्तु ऐसी गलत धारणायें नहीं बनायें। और जो यहाँ है वैसे ही रूप में चलता हूँ। मैं अपनी स्थिति से सोच रहा हूँ। और उदयपुर के चौमासे में क्या करना है यह भविष्य के गर्भ में है। जो कुछ करना होगा वह किया जाएगा। परन्तु आप अपनी शक्ति को व्यर्थ की बातों में खर्च नहीं करें। सत्य के नाते जिसकी जो बात है उससे ही पूछें और निर्णय करें। न कि बाजारू बातों में विश्वास हो। ऐसा करेंगे तो सत्यनिष्ठा से चलेंगे। यह जो शासन की स्थिति है यह भावी के गर्भ में है। भगवान महावीर का शासन है। अपने बने वैसी सेवा करें। निष्ठा के साथ चलें। अपने में ठीक तरह से रहते हुए चलें। नारद विद्या करने वालों में विश्वास नहीं करें। मेरे विषय में कोई बात करें तो मुझे पूछें। मैं क्या कहूँ ? कोई ठगाई करने वाले व्यक्ति गलत तरीके से पत्र लिखते हैं। किसी भोले व्यक्ति ने अपने परिचित भाई को पत्र लिखा। उसमें उदयपुर की हकीकत लिखता है। जिसको मुझे पता नहीं। बड़ा भद्दापन लिखा। तो उन्होंने पत्र यहाँ भेज दिया। और मैंने देखा। मेरे नाम से कोई

कल्पना नहीं थी। तो मैं इन प्रपंचों में नहीं पड़ता हूँ। अंतरसाक्षी से चलता हूँ। और मेरी अंतरात्मा जिसके लिए साक्षी नहीं देती तो सारा संसार एक तरफ और मेरी अंतरात्मक एक तरफ है। मुझे कोई पुराण पंथी कहो परन्तु मैं वैसा ही रहूँगा कि जैसा हूँ। मैं तो वीतराग देव का उपासक हूँ। गलत पत्र लिख दिया और मेरे नाम से लिखा तो मुझसे पूछ लो। इसमें कुछ वह रूपए पैसे का प्रपंच कि इतना उसको देना इतना उसको देना। तो मैं स्वप्न में भी नहीं जानता। तो आप किसी का विश्वास नहीं करें। मुझे जब तक नहीं पूछ लें तब तक तीन काल में भी विश्वास न करें। जो मेरे भाई हैं, साथी हैं और गलत धारणा कर लें तो मुझसे पूछ लीजिए। मैं पुष्टि कर दूँ तो ठीक और नहीं तो बाजारू बातें समझिए। ये सब निकम्मे व्यक्तियों की बातें हैं। जिसके सामने कोई कार्यक्रम नहीं वे ऐसी ही बातें करते रहते हैं। मैं कह गया हूँ कि यह वीतराग देव का सिद्धान्त बहुत पवित्र है। दूसरी ओर हम इस प्रकार से चलें तो यह कैसे ठीक ? आप चिंतन करें। मुझमें विश्वास है तो मुझसे पूछें। और नहीं तो बेकार की बात करें तो आपकी इच्छा है। मैं तो सावधानी दिलाता हूँ कि आप इन बातों को सुनकर मुझसे पूछ लेना।

इत्यलम्

